अनदेखो
(उपन्यास)

दो शब्द

मैं अपने उपन्यासों की भूमिका नहीं लिखता। उपन्यास स्वयं अपनी भूमि है। फिर भी अंतिम अध्याय में वैसा कुछ प्रयत्न है। सोचनेवालों के लिए।

यह मेरा सत्रहवां उपन्यास है। पचास से अधिक वर्षों में कहानी-उपन्यास लिख रहा हूं। अब और कैफियत देना जरूरी नहीं है। मैं सिर्फ कहानी कहकर मनोरंजन करने के लिए नहीं लिखता। मेरे मन में कुछ प्रश्न उमड़ते-घुमड़ते रहते हैं, उन्हीं को हल करने के प्रयास में सारा मेरा लेखन है। यह भी पाठको को अच्छा लगेगा ऐसी आशा है। पहले कुछ उपन्यासों के कई संस्करण भी हुए उससे पता लगता है कि पाठक ऐसे लेखन के भी प्रेमी हैं। पर पता नहीं वे कौन हैं। शायद यह सारी परिधि अनदेखी है। कितने लोग है जो एक दूसरों को नहीं जानते, पर समान भाव रखते हैं।

नई दिल्ली —प्रभाकर माचवे
1-5-88

चक्षुर्वै प्राणः

०

आखें ज़ुबां नही मगर बेज़ुबां नही
You have seen many eyes, but not the Eye —अरविंद

०

कैसा नज़ारा, किसका इशारा, कहां की बात
सब कुछ है और कुछ नही नीची निगाह मे —'दाग'

०

सकल अहंकार हे आमार
डुबाओ तोमार चोखेर जले —रवीन्द्रनाथ

०

यूं देखती है जैसे नही देखती नज़र —'शकील'

०

सूरदास हौं द्विविध आंधरो

०

Look not upon me because I am black, because the Sun hath looked upon me. —The song of Solomon

०

अन्ध तमः प्रविशन्ति ये संभूतीमुपासते

०

इस दृष्टि मे लिख रहा हूं कि कोई दृष्टि मिले

०

You notice what you look for —Wittgenstien

०

वहा उस तूर पर जाना गोया नाबीना होना है ! —शमशेर

जब वह देख सकती थी

जीना भी आ गया है मुझे मरना भी आ गया
पहचानने लगा हूं तुम्हारी नज़र को मैं

—'असग़र' गोंडवी

1

कहां से शुरू करूं अपनी बात—बात क्या अपनी कहानी ही कह लीजिये? क्या हर औरत अपनी बात कह सकती है? कई बातें हैं जो जबान तक आकर रह जाती हैं, और लौट जाती हैं। क्यों? क्या जो कुछ हमने जिन्दगी में देखा, भोगा, सहन किया, क्या वह सब कहने जैसा होता है? और हो भी तो क्या अपने मुंह से कहा जा सकता है?

पहली बात तो यहीं से कहूं कि हमने देखा ही क्या है? छोटी-सी अपनी दुनिया है। नदी है, समुद्र है, पहाड़ है। ये तीनों भी हमने पूरी तरह कहां देखे हैं! न नदी के मूल का पता है, न उसके सारे जीवन-पथ का।

समुद्र तो वैसे ही अथाह है, वेकिनार है। अनंत उसका क्षितिज है, और उसके भीतर क्या-क्या छिपा पड़ा है? कौन जानता है। रत्नाकर उसका नाम है। एक रत्नाकर डाकू था जो बाद में महाकवि वाल्मीकि बन गया। एक रत्नाकर मेरे जीवन में आया, जिसकी बात मैं बाद में बताऊंगी।

पर अब यह पहाड़-सा अकेलापन मैं इस तरह अपने जीवन के पुराने पन्ने जोड़-जोड़कर, संभालकर रखने और उसकी एक अनपढ़ी, अनजानी दृष्टि-कूट लिपिका अर्थ लगाने में ही बिता दूंगी तो क्या होगा? इस पोथी के कई पन्ने गायब हैं। कई अक्षर अब धुंधले पड़ गये हैं। पुराने हस्तलिखित को तो 'आई ग्लास, या बारीक अक्षरों को बड़ा बनाकर दिखाने वाली गोल काच से देखा-पढ़ा भी जा सकता है। पर मेरे जीवन के ऐसे कई अक्षर आज अनदेखे हैं, और वे पढ़ूं भी तो कैसे? मैंने वह पढ़ने का उपकरण अपने हाथों से बहते पानी में फेंक दिया है।

कहते हैं नदी पहाड़ से निकली। होगा! शायद सब नदियां पहाड़ फोड़कर निकली हों। या फिर क्या आकाश से गंगा की तरह गिरी? या जमीन को दरकाकर

फव्वारे की तरह ये ऊपर उछलीं ? कौन जानता है ?

नदी का मूल जानना खतरे से खाली नहीं।

व्यथा का मूल क्या सब जान पाते हैं ? फिर भी वह बहती ही रहती है। अन्तःसलिला, अनियंत्रित•••

व्यथा का कारण शायद प्रेम है। पर प्रेम तो नदी, पहाड़, समुद्र सब एक साथ है। यह चल जीवन और अचल पत्थर के बीच संवाद है। स्थिति-गति का वही अमूर्त तंतु है, सेतु है—शायद हेतु भी।

मेरा नाम मेरे माता पिता ने क्या सोचकर दर्शना रखा—पता नहीं। यह निश्चित है कि मैं सुदर्शना बिल्कुल नहीं हूं। सिर्फ यह सच है कि खाली वक्त में मैं अपने पिता से, विरासत से मिले, धर्म और दर्शनशास्त्र के ग्रंथ-ज्ञान को जरूर अलोटती-पलोटती रहती हूं। पर क्या किताबें पढ़ने से ही कोई दार्शनिक हो जाता है ? ऐसा होता तो ये इतने सारे कंपोजीटर, लाइब्रेरियन सब दर्शन के पण्डित हो जाते।

असल में पंडित होना, स्मृति के कोश में बहुत-सा संचित करना, तोतारटन्त की तरह बहुत से उद्धरण याद रख, उनका पुनरुच्चार करना यह सब यांत्रिक क्रियाएं हैं। अष्टाध्यायी शताध्यायी लोग होते हैं। अपनी स्मृति के अद्भुत चमत्कार दिखाने वाले लोग हैं। हाथी का दिमाग काफी बड़ा होता है, सांप की स्मृति विचित्र है, वह बराबर उसी को दंश करता है जिसका प्रतिशोध उसे लेना हो। साधारण मधुमक्खी की हम बराबरी नहीं कर सकते। वह दूर-दूर तक उड़ती है। फूलों का रस बटोरती है, और पुनः वहीं आ जाती है जहां से वह जाती है। कोई उसे रास्ता दिखानेवाला नहीं होता। उसकी ध्वनि ही उसकी राह दिखाने-वाली संकेतलिपि है। ध्वनि ही वहां गति है। दिशा है।

यह सब कहने का मतलब इतना ही है कि नाम तो दर्शना रख दिया, पर दृष्टि किसी ने नहीं दी। स्कूल में, कालिज में जहां पढ़ाई करती रही बस अंधे ही अंधे को रास्ता दिखाते रहे। दृष्टि थी तो केवल नाम-रूप पर। केवल ऊपरी-ऊपरी। चमक-दमक पर। किसी शायर ने ठीक ही कहा था—

> आंख भी क्या बुरी शै है
> जिसने डाली बुरी नजर डाली।

मेरा बचपन मुझे याद नहीं। बहुत ही गरीबी में गुजारा किया। मां का सदा आंसुओं से तर झुर्रियों भरा चेहरा ही याद है। वह धरम-करम बहुत किया करती थी। व्रत-नियम उसके अनेक थे। मगर उसी से वह सन्तोष मान लेती रही होगी। बेचारी बड़े घर की बेटी थी। पर इस रेलवे में काम करनेवाले गुस्सैल और शराबी पति से भांवरें डाली। और वह बच्चों पर बच्चे जनती रही, वे छुटपन में मरते रहे। मैं सबसे छोटी थी। मुझसे बड़े तीन भाई जिन्दा हैं। पर किस काम

रह हमारे मन के उपजे हुए ही हैं। जिसे हम अपना भाग्य और नियति,
अदृष्ट' कहते हैं, वह केवल अपने अभाग्य, अपनी अनियति और अपनी ही
हीनता को हम आरोपित करके जबर्दस्ती रस्सी का सांप, तिल का ताड़, न-
को सब-कुछ मानकर चलते हैं, और पछताते है। असल में सारा देखना अपने
न में पहले जो देख चुके हैं, उसी को दोहराना, बल्कि अनदेखी को टालने की
शिश मात्र है।

दूसरी घटना याद आती है, मेरे नानी का चश्मा चुराने की। मैंने नटखटपन में उसे कहीं छिपाकर रख दिया था। वह बहुत परेशान थी। चश्मे के बिना वह एक डग नही चल पाती थी, किसी के सहारे के बिना। हमने सोचा कि चलो नानी जी को तंग करेंगे, और उनकी इस तात्कालिक दृष्टिहीनता का लाभ उठाकर हम कुछ चोरी कर लेंगे, उनके बक्से से। पर नानी बहुत तेज कानोंवाली थीं। चश्मे के बिना भी वह बराबर उस जगह पहुंच गई जहां उनका बक्सा था। हमें उन्होंने पकड़ लिया, और ऐसी डांट पिलाई कि आज तक याद है। वे, वैसे पता नहीं चश्मे के बिना भी किसी छठी इन्द्रिय के सहारे बराबर अपनी दिशा खोज लेती थी।

इन दो घटनाओं से मैंने देखने के बारे में दो बातें सीखी—जो दिखाई देता है वह सब सच नहीं होता। जब बड़े-बड़े दार्शनिक कहते हैं कि सच का अनुसरण करो। तो प्रश्न यह उठता है कि सच किसका ?

देखने वाले का ?

या देखने न देखने से परे उस वस्तु का या दृश्य का ?

और दृश्य से परे भी कोई अदृश्य जो है, क्या उसका कोई सच नहीं ?

बहुत-सा सच जिसे हम मानकर चलते थे कि अंतिम सत्य है। अब सापेक्षिक निकला है।

जो बात सच की है, वह चोरी के बारे में भी सही है। चोरी हम खेल-खेल करने गये। वही नानी की दृष्टि में (चश्माविहीन) सचमुच की चोरी हो ग
जब हमारे शास्त्रकार और पाप-पुण्य के पहरेदार, कहते हैं कि चोरी मत क
तब क्या वे हमें आंख चुराने के लिए कहते हैं ? चोरी-चोरी आंखें भी क्य
नहीं जमा कर लेती।

आंखें खुली रहती हैं तो वे बराबर देखती रहती हैं, और पता नहीं
बटोरती रहती हैं। उनमें से क्या सब देखने लायक होता है ? कई बार
अनदेखत को संग'—यानी ऐसी चीजें दिखाई पड़ती हैं, और देखनी प
हम कभी देखना न चाहें। और चाहकर भी नहीं दिखाई देने वाली क
मैंने 'अनचाहत' को 'अनदेखत' कहा है।

तो तीसरी घटना मेरे बचपन की, स्कूल की, है। हमारे ड्राइंग

तरह की आकृतियां दिखा रहे थे जो 'दृष्टि-भ्रम' के उदाहरण थे। यानी दो रेखायें मामान होने पर भी समान नहीं दिखाई देती हैं। दो त्रिकोण एक जैसे हैं, पर वे कैसे नहीं दरसाई देते। इसी तरह के कई आखों को दिखाई दे पर वहां जाकर देखो तो एकदम 'भयभया' या 'मृगतृष्णा' जैसी मरीचिका हो, ऐसे भी किस्से हैं।

मामूली पेन्सिल पानी के गिलास में टेढ़ी रखी है। पर पानी मे, वह और भी टेढ़ी दिखाई देती है। आसमान का नीला रंग पानी में और गहरा नीला हो जाता है। ऐसा क्यों है?

बाद में मैं जब किताबें पढ़ने लगी तो यह दृष्टांत बरट्रेंड रसेल ने दूरबीन का दिया हुआ पढा कि एक आदमी दूरबीन से एक दूर का आकाश का तारा देख रहा है तो उस तारे के न दिखाई देने में सात संभावनाएं हो सकती हैं।

पहले तो देखनेवाले की आख में ही कोई दोष हो, यानी वह दूर का देख ही नही सकता हो,

या, जो चश्मा उसने पहन रखा हो उसकी लेन्स में दोष हो, या दूरबीन की लेन्सें ठीक से जमाई गई न हों,

या, दूरबीन के अन्तिम लेंस पर धूल पड़ गई हो,

या, दूरबीन और तारे के बीच में बादल या कुहरा आ गया हो, आवरण की तरह,

या, वह तारा अभी प्रकट ही नही हुआ हो,

या, उस तारे के प्रकट होने की तिथि या मुहूर्त के हमारे गणित-अनुमान में ही गलती हो।

एक मामूली-सी बात—दूरबीन से तारा देखना—इसी मे जब इतने सारे 'पंख' हो सकते हैं, तो हम कैसे मानकर चलते हैं कि हमारा सब देखा हुआ, निरखा हुआ, अंतिम सत्य है, उसमे कोई अप्रत्यक्ष होता ही नही। वैज्ञानिक 'चाक्षुष प्रत्यक्ष' पर जोर देते हैं न?

'कबिरा कहै आंख की देखी,' पर सूरदास की भी तो दृष्टि थी। वह क्या थी?

किसी कवि ने ठीक ही कहा है कि 'दृष्टिज्ञान की सीमाएं हैं, दृष्टिज्ञान थोड़ा-थोड़ा है।'

हम दिन मे भी तो कई बार 'दिवा-स्वप्न' देखते हैं। जागते हुए सपने मे खो जाते हैं। पो नामक अंग्रेजी कवि ने कहा कि यह सब कुछ जो हम देखते हैं या दिखाई पड़ता है, वह सब एक 'सपने मे सपना' है:

आल दैट वी सी और सीम

इज बट ए ड्रीम विदिन ए ड्रीम

फिर मेरी आदत के हिसाब से इसी दर्शन-चिंतन के चक्कर मे पड़ गई। पर

सचमुच कई बार ज़िंदगी में धोखा हो जाता है । मैं तो अपने छोटे से जीवन में कितनी बार धोखा खा चुकी हूं।

बचपन में मैं अपने पड़ोसियों को बड़ा अच्छा समझती थी, पर मैंने देखा कि जो चाकलेट का एक टुकड़ा देते थे, उसके बदले में वे मुझसे पचासों ऐसे काम करा लेते थे, जो तब अखरते नहीं थे, पर अब अखरते हैं। वे तो मियां-बीबी शाम को चले जाते थे पार्टी या डिनर पर। उनके बच्चों को खिलाने-संभालने का मुफ्त का काम वे करा लेते थे। वे जो रद्दी-सद्दी चीज़ बाज़ार से सस्ते में ले आते मुझे (कुछ मुनाफा लेकर) बेच देते थे। ऊपर से तुर्रा यह कि वे खास तौर से मेरे लिए ही वह चीज़ लाये है ऐसा उपकार भी ऊपर से दिखाते थे।

मैं बहुत दिनों तक समझती थी कि पड़ोसिन बड़ी अमीर हैं, सोने और जवाहरात से लदी घूमती हैं। पर असल में वे सब नकली सोने और नकली हीरों के गहने थे। आजकल असली और नकली मोती में, हीरे में पहचान करना बहुत मुश्किल हो गया है।

जो हमेशा हंसमुख दिखाई देता है, यह ज़रूरी नहीं कि वह सुखी ही हो। शायद वह अपना भीतरी दुख छिपाने के लिए ऐसा करता हो, कौन जानता है ?

मैं सीधी-साधी, अत्यंत लाड़-प्यार में बढ़ी लड़की, दुनिया की मक्कारी बहुत वर्षों तक समझ ही नहीं पाई। अब सब कुछ बताने ही बैठी हूं, तो तीन पुरुषों की घटनाएं आपको बताती हूं, तीनों तीन तरह के लोग थे। पर सब-के-सब कमीने ही निकले। मैंने उन्हें कितना महान् माना, उन पर श्रद्धा की, उन्हें देवता माना, आदर और स्नेह दिया और निकले वे निरे पत्थर।

सबसे पहले रत्नाकर।

2

मैं सयानी हुई। हाई स्कूल पास करके कालेज में मुझे भर्ती कराया गया। मेरे कई विषयों में संस्कृत भी एक था। और उसमें मुझे अच्छे नंबर नहीं आते थे। पिताजी ने यह चिंता रेल में ही काम करने वाले उनके एक मित्र बड़े बाबू से व्यक्त की। उन्होंने कहा—"उसमें क्या बात है ? मेरे ध्यान में एक पंडित का बेटा है।"

"हमें पंडित-वंडित नहीं चाहिए। उसके मार्क अच्छे आ जायें, बस इतना ही

चाहिए।"

"वह पैसे ज्यादह नहीं लेगा। गरीब विधवा की संतान है। वह घर-घर पुरोहिती, पूजापाठ करता है। पर आजकल उससे क्या होता है। तुम तो जानते ही हो। चार पैसे मिल जायें बस यही है। उसका गुजारा चल जाये।"

"मगर उम्र क्या है उसकी? यही तुम्हारी लड़की से बहुत बड़ा है। अब दर्शन कितनी बड़ी है।"

"यही पन्द्रहवां चल रहा है।"

"वह चालीस साल का होगा। पर सब कहते हैं होशियार है।"

"अच्छा भेज दो।"

चोटी फटकारते, कुर्ता धोती उपरना पहने रत्नाकर साहब दूसरे दिन घर आने लगे। पहले तो उन्होंने हमारी मा का विश्वास प्राप्त कर लिया। कुछ व्रत-कथा सुनाकर, कुछ ज्योतिष बताकर। हमारे यहां वे बहुत ज्यादा पवित्र बनते थे। पानी भी नहीं पीते थे। हां, फल मिठाई खा लेते थे। तभी मुझे यह जात-पांत का अंतर पता लगा। वे ऊंचे गोत्र के ब्राह्मण थे। हम लोग कायस्थ ठहरे। पिता जी के दोस्त आते। घर में भी शराब पीते थे, गोश्त भी बनाते थे। मा को यह पसंद नहीं था। पर उसे कौन पूछता है? कुछ दिन तो ठीक पढ़ाई चली। धीरे-धीरे रत्नाकर के अन्य गुण हम जानने लगे। वे कविता भी करते थे।

एक दिन पढ़ाते-पढ़ाते उन्होंने यह श्लोक सुनाया—

"न केवलं तववैते नेत्रे कर्णान्तिसर्पिणी
अतिदीर्घतया कस्य न कर्णोपान्त भागते

(ये तुम्हारे विशाल नेत्र कानों तक पहुचने वाले नहीं हैं, पर यह खबर कानोकान पहुच गई है)"

और वे मुग्ध भाव से मेरी ओर देखते ही रह गये। मैं लज्जा से लाल हो गई। सचमुच क्या मेरी आखें इतनी बड़ी थी? मैं कनखियो से उन्हें देखू उससे पहले उन्होंने महाभारत की कृष्ण-अर्जुन-कर्ण की कथा से आंखों को जोड़ दिया— "भट्टवृद्ध ने तो इन आंखों के कालेपन, सलोनेपन और कान तक फैले होने की तुलना, क्षण भर में सब नष्ट करने वाले कृष्ण और कर्ण का नाश करने वाले अर्जुन से की है।

"निमेषेण घ्नता लोके कृष्णेन स्निग्धचारुणा
कर्णान्तं गच्छता तस्या लोचनेनार्जुनायितम्"

मैंने बहुत भोले भाव से पूछा—"पंडितजी, आंखें क्या सचमुच किसी को नष्ट कर सकती हैं?"

वे चुप रहे। उन्होंने प्रसग बदल दिया।

मा से मैंने पूछा, तो वह बोली—शिवजी की तीसरी आंख में अग्नि होती थी।

वे सारे संसार को जलाकर छार कर दे सकते थे।

यह आंखों का जिक्र तो मेरे दर्शना नाम से ही छिड़ जाया करता था। पर मैंने देखा रत्नाकर पंडित संस्कृत पढ़ाने के बहाने काफी बहकी-बहकी बातें करते थे। मुझे अपनी मुंहबोली बहन कहते। कहते कि उनकी कोई बहन नहीं है, इसलिए और किससे वह बात करे? मां वैसे ही दुखियारी, विधवा, घर-घर जाकर सिलाई बुनाई का काम करके किसी तरह पेट पालती है।

मुझसे भी इतनी आत्मीयता से बात करने वाला कोई और था नहीं। सहज ही उनसे सहानुभूति-सी हो गई।

पिताजी तो सदा चिढ़चिढ़ किया करते। क्रोध में भरी बातें करते, या फिर नशे में धुत्त रहते। मेरे कोई मित्र नहीं थे, न लड़कियों में, न अड़ोस-पड़ोस की स्त्रियों में। अकेली मैं क्या करती? किससे खेलती?

रत्नाकर मुझे अच्छी-अच्छी पुस्तकें पढ़ने के लिए लाकर देता। उनमें पुराण, इतिहास, जीवनियां होतीं। कविता की भी किताबें थीं। संस्कृत और ब्रजभाषा की कविता की पुस्तकें अक्सर शृंगार रस की होतीं। मेरे मन में कभी भी यह शक नहीं आया कि रत्नाकर के मन में कोई पाप होगा। या मेरे प्रति उनकी अभिलाषा इतनी प्रबल होगी क्योंकि वह उसे कभी भी स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं करता था।

हां, साहित्य पढ़ते समय यह आंखों की चंचलता और उनकी हिरनों से उपमा की बात भी छिड़ जाती थी। मैं समझती हूं संस्कृत कवियों में जंगल और मोर और हिरन, हंस और बलाका, हाथी और सिंह की चर्चा बहुत आती है। वे सब वृक्षों, वनस्पतियों, लताओं, गुल्मों से पशु-पक्षियों से प्रेम करने वाले लोग थे।

धीरे-धीरे रत्नाकर ने हमें कई सुंदर संस्कृत पद्य पढ़ाये। जैसे, श्री हर्ष के 'नैषध' में मृग दमयंती के चंचल नेत्रों को देखकर खुरों से अपनी आंखें खुजलाने लगते हैं। मृगों के नेत्र लज्जित हो रहे हैं और उन्हें सहलाने का यह प्रयत्न है। ('खुरकंडूयनकैतवान्मृगाः') यह प्रसंग आने पर विस्तार से रत्नाकर आंखों की भौंहें, बरौनी, पलकें, पुतली सब पर कवियों की उक्तियां सुनाते। पर आंसुओं पर संस्कृत कवि बहुत कम ठिठके हैं। शोक उत्सव की वस्तु वे नहीं समझते थे।

कालिदास की रचना पढ़ाते समय पार्वती के चंचल नेत्रों पर उन्होंने यह प्रश्न पूछा कि पार्वती के नेत्रों ने मृगों से यह चंचलता सीखी है, या मृगों ने पार्वती के नेत्रों से—

प्रवाल नीलोत्पलनिर्विशेष—
मधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्याः
तया गृहीतं नु मृगांकनाम्य—
स्ततो गृहीतं नु मृगांकनाभिः

मृग को अपने भीतर छिपी कस्तूरी-गंध का कहां पता होता है। वह वन-वन उसे खोजता फिरता है। क्या हम अपने भीतर के गुणों को जानते हैं? यह सोचकर मेरे होश हिरन हो गये।

'कुमारसंभव' पढाते समय उन्होंने मेरी भवों को लक्ष्य करके कहा—"कालिदास कहते हैं—"ये तो अजन शलाकाएं हैं।" तब मैं थोड़ी-सी ठिठकी। मैंने कहा—"संस्कृत कवि तो देवियों की बातें लिखते हैं। कहां वे, कहां मैं?"

"हर मानवी में एक देवी छिपी है।" रत्नाकर बोले।

अब मुझे लगा कि यह तो निरर्थक स्तुति की जा रही है। क्या हर पत्थर को देवता बनाया जा सकता है?

शायद हां, शायद नहीं—मेरा मन कहीं भीतर ही भीतर विचलित हो उठा। मैंने विषयांतर किया। रत्नाकर से मैंने पूछा—"वह आंखों की बातें छोड़िये। हमें अब अंधकासुर की कथा सुनाइये।"

रत्नाकर ने कहा कि—"हिरण्याक्ष का एक पुत्र था अंधकासुर। उसने एक बार मोहांध होकर देवी पार्वती पर ही बुरी दृष्टि डाली और उसे अपनाना चाहा। शिव इस पर क्रोधांध हो गये और उन्होंने उसे जीतने की बात ठानी। अब दोनों का युद्ध ठन गया। शिव और अंधकासुर की इस लड़ाई में होता यह था कि अंधकासुर की एक-एक रक्त की बूंद से, जैसे बीज से अनेक वृक्ष होते हैं, वैसे अनेक राक्षस निर्माण होने लगे।"

मैंने पूछा—"बुराई तो इसी तरह जितना उसका दमन करते जाओ और बढ़ती ही जाती है। फिर शिव ने क्या किया?"

"शिव ने सोचा कि यह रक्त की बूंदें जमीन पर नहीं गिरनी चाहिए। उन्हें बीच में ही कोई सोख ले या पी ले तो काम बन जायेगा। शिव ने अपनी शक्ति के सहारे चामुंडा देवी और सप्त मातृकाओं का निर्माण किया। वे इस असुर का रक्त ऊपर ही पी लेती थीं। उसकी एक भी बूंद जमीन पर गिरने नहीं देती थीं। अब अंधकासुर घबड़ाया। उसने कहा—"मैं आपकी शरण में आया हूं। मुझे बचाइये। इस पर शिवजी ने प्रसन्न होकर उसका नाम भृंगीश रखा और अपने गणों का अधिपति बना दिया।"

मैंने पूछा—"क्या यह सच है?"

रत्नाकर—"कवि और पुराणकार के लिए सच क्या है, कल्पना क्या है? हमारे पुराने शिल्पों में इस कथा पर आधारित सुंदर मूर्तियां हैं, एलोरा में, घारापुरी में। एलोरा के शिल्प में शिव के भाले पर अंधकासुर उत्कीर्ण है।"

"आप बहुत अच्छी कहानियां और कविताएं सुनाते हैं पर जीवन में वे कहीं नहीं दिखाई देतीं।"

"उनको प्रतीक रूप में अर्थ लिया करो, दर्शना। कल्पना पर जीने वाले कवि

कलाकार अतिशयोक्ति भी तो करते हैं। छोटी-सी आंखों में वे सारा संसार समाया हुआ मानते हैं। सच बात यह है कि दुनिया तो वही है जो हम देख पाते हैं। बाकी तो मन की मौज है, हवाई महल है।"

उस दिन मुझे लगा कि रत्नाकर कितने गहरे हैं। अथाह हैं। उनमें पता नहीं कितनी-कितनी ज्ञान की मुक्तावलियां छिपी पड़ी हैं।

जाते-जाते उन्होंने फिर कमल, मृग, खंजन से आंखों की उपमा देनेवाले कवियों में से किसी एक की उक्ति सुनाई, जिसमें नीलाम्बर को ही कालिन्दी बना डाला था—

उत्तरंग्य कुरंग लोचने
लोचने कमलगर्व मोचने
अस्तु सुंदरि कालिंदनंदिनी
वीचिडंवर गंभीरम् मंवरम्

(कमलों का गर्व हरण करने वाली तुम्हारी मृग जैसी आंखें तरंगित होकर आकाश को यमुना के कृष्णजल का आभास दें।)

परंतु रत्नाकर दूर से ही सुंदर होते हैं। पास से जाने पर उसका खारा जल प्यास नहीं बुझा सकता।

उनमें सिर्फ हीरे-मोती ही नहीं होते, बड़े-बड़े जबड़ोंवाले, तीखे दांतों वाले शार्क और ह्वेल महामत्स्य भी होते हैं, ऑक्टोपस होते हैं, भयानक चट्टानें छिपी हुई होती हैं, और कहीं-कहीं ज्वालामुखी भी उनमें से उबलकर बाहर आ जाते हैं। अब तो समुद्र की गहराई में से क्या-क्या नहीं निकलता? कनिष्क के मलबे से 'स्ट्रांग बॉक्स', ईरान की खाड़ी में 'माइन' या सुरंगें, किसी प्राचीन विशाल मूर्ति के हाथ का पंजा···

रत्नाकर साहब की बोलने की चतुराई कितनी भी हो, मैं उनके इरादे ताड़ गई। और समुद्रमंथन से पहले ही मैंने पिताजी से मां के मार्फत कहलवा दिया— "मुझे अब संस्कृत नहीं पढ़नी है। वैसे भी यह भाषा पढ़कर उपयोग क्या है? मास्टरनी बनने के अलावा और कोई उपयोग नहीं फिलहाल इस भाषा का"

पिताजी मान गये। रत्नाकर की जो भी तनखा थी दे दी गई। मैंने उनकी सब किताबें ऐहतियात से उन्हें लौटा दीं ताकि उन्हें कोई बहाना न मिले वापिस आने का।

क्या होता है इन पुरुषों में? इतनी विद्या, इतना सब संस्कृत का भंडार पढ़कर भी, वे अंधे के अंधे रहते हैं! अंधे का मतलब है अविवेकी।

किताबी ज्ञान-विज्ञान और जीवन की व्यावहारिक समझदारी या विवेक— इन दो बातों में बड़ा अन्तर है, मैंने बहुत छोटी उम्र में यह जान लिया। रत्नाकर का मैं आभारी हूं कि मुझे हमारी संस्कृति का एक अंधा पक्ष पूरी तरह उजागर हो

गया—जात-पात, ऊंच-नीच, छुआछूत, रूढ़ि-विश्वास ने हमारे तथाकथित ब्राह्मण और उच्च वर्ग के हिंदुओं को कितना अंधा बना दिया है। और वे अपनी अंधता से अपरिचित हैं, कहां रही वह कवि कल्पना।

"उदंचय दृगचलं रचय मंगले सर्वतः
चिराय समुपागतः पुरत एव ते वल्लभः
इति प्रियागिरा श्रुतिपुलक दन्तुरे कुर्वती
प्रकटयति नो दृशौ प्रियसखी मृणाशंकया"

यानी—

"अपनी आंखों की कोर उठा और अपने आसपास का सब कुछ मंगलमय कर, यह तुम्हारा प्रियतम कितने वियोग के बाद तुमसे मिलने आया है।" यह प्रिय शब्द सुनकर कहीं यह झूठ तो नहीं है इस संदेह से वह अपनी आंखें नहीं खोलती है।"

और कहां यह स्वप्न-भंग !

नाम दर्शना रख दिया, पर मेरे भाग्य में यही टूटे हुए सपनों की कड़ियां हैं। यही ढहते हुए कल्पना-प्रासाद हैं ! यही बिलमते हुए इंद्रधनुषों की रंगपालिका का क्षण-जीवी नर्तन है !

रत्नाकर के साथ से मुझे कई बातें सीखने को मिलीं।

—आदमी जैसा दिखता है, वैसा ही नहीं होता

—आदमी बहुरूपिया होता है

—आदमी बहुत जल्दी अपनी स्थापनाएं बदलता है

—आदमी सब काम स्वार्थ के लिए करता है। नदियों का सारा मीठा जल रत्नाकर में जाकर खारा हो जाता है

—रत्नाकर समझता है कि वह जहाजों के लिए मार्ग दे रहा है। असल में उसके दोनों छोर व्यापार करते रहते हैं।

मेरा मन खिन्न हो गया।

हम सब जगह लिखा हुआ पढ़ते हैं 'समुद्र-समतल से इतने-इतने मीटर या फीट ऊंचा'। पर क्या समुद्र का तल आधार मानने अपनी बस्ती या पहाड़ की ऊंचाई हम नाप सकेंगे ?

कवि 'रत्नाकर' ने लिखा था—'बूंदता बिलै हैं नहीं बारिधि ि 'उद्धवशतक' में गोपियां कृष्ण को उलाहना देती हैं। पर आज हम सब देखते हैं कि एक बूंद से कई सौ वह हौज से नहीं आती है।

रत्नाकर तो शास्त्रों के नियम के अनुसार समुद्र-यात्रा न पर जैसे केवल प्राचीन ग्रंथों पर अपना विश्वास र स्वार्थांध हो सकते हैं, जितने की नई रोशनीवाले, अपन

क्रांतिकारी मानने वाले दंभी बौद्धिक।

जितना मैं अपने पुराने जीवन की ओर देखती हूं, उतनी ही मेरी वितृष्णा बढ़ती जाती हैं।

किसी तरह बी० ए० करने के बाद मेरे पिताजी ने मुझे अपने मामा के पास बम्बई भेज दिया। एक शांत, ठहरे हुए, कस्बई जीवन से एकदम सब कुछ बदल गया। बिजली गाड़ी के इस शहर में हर आदमी यंत्र-चलित-सा चल रहा है। किसी को दूसरे से कोई मतलब नहीं है। दूसरे से जो कुछ काम भी है, वह भी अपने मतलब से ही जुड़ा हुआ। शेष सब कुछ 'निष्काम' है। सब अपने-अपने अजनबी बने घूम रहे हैं।

यह एक दूसरा ही दर्शन था। कालिदास और श्री हर्ष की दुनिया से बहुत दूर। यहां हिरन और हाथी सिर्फ पशुसंग्रहालय—विक्टोरिया गार्डन में ही देखे जा सकते थे। लोलापांगवाली कमल लोचनाएं सिर्फ सिनेमा के पोस्टरों में ही दिखाई देती थीं—वह भी तमंचा या बंदूक ताने हुए।

दार्शनिकों के देश भारत में, उसकी पश्चिमी राजधानी बंबई में, समुद्र तट चौपाटी पर आपको धार्मिक प्रवचन देने वाले कई बाबा मिल जायेंगे, दुनिया को बदल देने का आश्वासन देने वाले नेता गलीमलीमें हैं, पर झुग्गी-झोंपड़ियों का गंदा ज्वार शहर को लील रहा है। यहां का अर्थशास्त्र सारे देश-विदेश में अनर्थ ढा रहा है। पर उन सब की शुरुआत अपने घर से ही होती है।

मेरा पहला घर छूटा। यह दूसरा घर भी मुझे अपना-सा कहां लगता था? और वहां मैं देख ही रही थी कि अंधे अंधों को रास्ता दिखा रहे हैं।

3

मेरे जीवन में दूसरा आदमी था आनंद। एक वामपंथी पत्रकार, वह अपने आपको कहता था।

मैं उससे कैसे मिली? यह संयोग ही पहले सुना दूं।

मेरे मामाजी बंबई में बिजनेस करते थे। उनके पास बड़ा समुद्र किनारे ऊंची मंजिल पर अपना फ्लैट था। सब सुख सुविधाओं से भरा। उनकी कार थी। ड्राइवर था। घर में खाना बनाने को नौकरानी थी। मामी अकेली थीं। उन्हें कोई

सन्तान नही थी। बेचारी स्वभाव से बहुत अच्छी थी। सबकी आवभगत करने वाली। पर इधर बहुत दिनों से बीमार रहती थी। उन्हें रक्तचाप कम होने से, कमजोरी और पीलिया हो गया था। वे खाने-पीने में बहुत एहतियात बरतती थी। परतु श्रीमती सरोज वर्मा जितनी बाहर खाने में ऐतराज करती थी, पार्टियो में जाना पसन्द नही करती थी, उतने ही मेरे मामा श्री ओंकारनाथ वर्मा यारवाश, क्लब मे जानेवाले, जीवन की अच्छी चीजो का लुत्फ उठाने वाले, देश-विदेश घूमते रहने वाले, आधुनिक नव-श्रीमंत थे।

मैं वहां क्या गई, मामाजी ने 'दर्शना, दर्शना' कहकर मुझे अपने सिर उठा लिया। वात्सल्य मे बाध दिया। जहा जाते, मुझे साथ ले जाते। सिनेमावाले, पत्रकार, राजनैतिक, बौद्धिक उनके कई मित्र थे। पश्चिमी ढग की 'सोसायटी' में, उनके अहिंदू और विदेशी दोस्त थे। वे सबसे उत्साह से मेरा परिचय कराते। झूठी तारीफें करते—"संस्कृत का स्कालर है। गाती भी बहुत अच्छा है। अब मैं इसे 'माडर्न' बना रहा हूं। अपना काम खुद खोज ले। अपना जीवन-साथी खुद खोज ले।" सबसे कहते रहते। मैं शरमा जाती।

मैंने श्रीमती सरोज और श्री ओंकारनाथ जैसा अंतर्मुखी-बहिर्मुखी जोड़ा नही देखे। कई बातो मे दोनों की पसन्द-नापसन्द एकदम परस्पर विरोधी, पर दोनों मे गहरा प्रेम था। विवाह हुए अब बीस साल हो चुके थे। दोनों ने अब इस नियति से समझौता-सा कर लिया था कि उन्हे कोई बाल बच्चा नही होगा। न कोई गोद लेना चाहते थे।

श्रीमती सरोज को सादा, हल्के रंग के कपड़े पसंद थे। श्री वर्मा रंगीन, फूलों-वाली, विदेश से निर्यात बुशर्टें पहनते। श्रीमती सरोज को खेल मात्र से बोरियत होती थी तो श्री वर्मा हर खेल में सबसे आगे दर्शक के नाते। छुट्टियों मे दिन-भर दूरदर्शन पर खेल देखते रहते। बच्चों जैसे उत्साह से। श्रीमती वर्मा को भजन, शास्त्रीय संगीत प्रिय था। तो श्रीवर्मा को संगीत का ज्ञान हो नहीं था। वे पसद करते सिनेमा के गीत या गजलें। या फिर पश्चिम का कानफाडू पोप-संगीत। श्रीमती वर्मा साहित्य पुस्तकें पढ़ती, श्री वर्मा विज्ञान या अर्थशास्त्र की अंग्रेजी किताबें।

एक दिन वे किसी के घर रात के भोजन पर बुलाये गये थे। वहा मैं भी गई थी। वहा यह नवयुवक आया था। अपना नाम आनन्द बताया। बड़ी तेज़ तर्रार भाषा बोलता था। अंग्रेजी बहुत अच्छी थी। पहले परिचय के साथ ही उसने मुझे मानों कचहरी में जैसे गवाह की प्रश्नो की जाच की जाती है, वैसे पूछा—

"आप कालेज मे पढती हैं यह तो ठीक। पर आपकी 'होबी' क्या है ?

मैंने कभी ऐसे प्रश्न की अपेक्षा किसी अजनबी से की ही नही थी। सकुचाते हुए मैंने कहा—"गाना और पढना"

"गाना आपको किसका पसन्द है"

याद नहीं मैंने एक दो शास्त्रीय संगीतकारों के नाम लिये या क्या किया। उसने दूसरे प्रश्न की गोली दागी :

"आप पढ़ती क्या हैं ? कोर्स बुक छोड़ दीजिये। उनके अलावा आप क्या पढ़ती हैं ?"

मैंने उसे चिढ़ाने के लिए कहा—"संस्कृत ग्रन्थ"

वह माननेवाला नहीं था। उसने उसमें भी प्रति प्रश्न किया, "कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' पढ़ा है ?"

मैंने कहा, "नहीं, साहित्य नहीं है"

वह एकदम बहस पर उतारू हो गया—"क्या साहित्य का अर्थशास्त्र से कोई संबंध नहीं है ? मनुष्य का अर्थशास्त्र से सम्बन्ध है या नहीं ? देखती नहीं जीवन का चार-पंचमांश भाग आर्थिक समस्याओं ने जूझने में बीतता है... "

"यह मध्यवर्गीय दृष्टिकोण है। बहुत पुराना हो चुका यह उन्नीसवीं सदी का तर्क" मैंने उसे टालने की कोशिश की।

पर वह भी बहुत हठी था। मैंने मन में कहा कि ये पुरुष सब मछली की तरह स्त्री को समझते हैं। अलग-अलग तरह से वे जाल बिछाते रहते हैं। रत्नाकर बार-बार संस्कृत की कविता के अंश सुनाता था। इक यह आनंद बार-बार मार्क्स का आधार लेता है। दोनों की बुद्धि या विचार करने के ढंग में कोई-न-कोई कमज़ोरी है। वे बिना किसी खूंटे या आधार के आगे नहीं बढ़ सकते।

ऐसे ही एक दिन जब आनंद शाम को समुद्र किनारे नारियल के झुरमुटों से छनती ढलते सूरज की लाल-केशरी किरणों और चम-चम करती हुई तरंगों के अंदर दृश्य को न देखते हुए समुद्र किनारे जमा होने वाले अमीर निठल्लों की 'बूर्जुवा' आदतों और उनके वर्ग-विश्लेपण में पड़ गये, मुझसे रहा नहीं गया, मैंने उसे एक रामकृष्ण परमहंस की कहानी सुनाई। कुछ मछुआरे रात को खूब पीकर अपनी छोटी नदी में चप्पू ले-लेकर बैठ गये। खूब अंधेरी रात थी। रात-भर वे ज़ोर-ज़ोर से नाव चलाते रहे और आनन्द लेते रहे कि नाव गोल-गोल घूम रही है। वे समझे कि वे नाव से खूब दूर तक घूमकर आये हैं। थककर वे सो गये। नाव हिल ही रही थी। वे समझे कि खूब दूर तक वे आये हैं और किनारे के दूसरे पड़ाव पर पहुंच गये हैं। पर सवेरे उठकर उनकी हैरानी का ठिकाना नहीं रहा जब उन्होंने देखा कि नाव जिस खूंटे से बंधी थी, वह रस्सी खोलना ही वे भूल गये थे। यानी वे उसी जगह बंधे हुये थे और समझ रहे थे कि वे काफी घूम आए हैं। पानी में सैर कर रहे हैं। और मैंने कहा :

"हमारा सारा जानना ऐसे ही खूंटे से बंधा एकदम व्यर्थ होता है। हम अपने ही आसपास घूमते रहते हैं। जो हमारी पूर्व निश्चित धारणाएं होती हैं उन्हीं को सिद्ध करने के लिए हम ये सब प्रयत्न करते रहते हैं।"

आनंद बहुत नाराज हुआ। "यह सब इसलिए कहते हो कि तुमने दुनिया देखी नहीं है। अपने मामा के बहुत सुरक्षित सुसज्जित स्वर्ग की सीमा मे तुम रहती हो, और तुम नही, तुम्हारी टुटपुंजिया धारणाएं बोल रही हैं।" पेटी बुर्जुआ को वह 'टुटपुंजिया' कहता था।

तो यह तै हुआ कि एक दिन बंबई की झुग्गी-झोंपड़ी वाले इलाके मे हम दोनों जायेंगे। आनंद अपने एक दोस्त, उन लोगों में काम करने वाले एक कम्युनिस्ट कामरेड शिगारे को ले आया। मेरी समझ में उन लोगो की भाषा कम आती थी और बंबई भी बस्ती स्लम या 'गलिच्छ' बस्ती मे रहनेवालों की अपनी एक अलग उप-भाषा होती है। उसे 'चोर भाषा' भी कहते हैं।

हम लोग सवेरे अपने रहने के स्थान से, अपने-अपने बगल-झोले लेकर बिजली की गाड़ी से धारावी के पास उस बस्ती में पहुचे।

बंबई अजीब संमिश्र जन-सागर है। वहां भारत और भारत के बाहर के भी—नेपाल, बंगलादेश, श्रीलंका, तिब्बत, बर्मा आदि-आदि स्थानों के भी—लोगों को आकर्षित करती है। मोहमयी बंबई नगरी में सब अपना 'नसीब कमाने' आते हैं। अब उन लोगों मे से सबसे पहले एक नेपाली लड़की से भेंट हुई। एक मुस्लिम बुढ़िया उसे खीचकर ले आयी थी। छोटी सी 'खोली' (कोठरी) में वे दोनो रहते थे। पास मे ही गटर बहती थी। पानी का बेहद कष्ट था। पर जब हम 10-11 बजे वहां पहुंचे तो उस बस्ती के पुरुष प्रायः बाहर कही चले गए थे। हमने उस बुढ़िया से बात करने की कोशिश की। दो नौजवानो से वह अकेले मे बात करनी पर मुझे साथ मे देखकर सकपकाई। यह क्यो आई है? कही पुलिसवाली तो नही है? आजकल पता नही किस-किस भेस में ये आ जाते हैं। जब हमने बताया कि "नही, डरने की बात नही है। हम अखबारवाले हैं, तुम्हारे दुख दर्द पर लिखेंगे।" तो भी उसे भरोसा नही हुआ। बुढ़िया बोली—"ऐसे बहुत कैमरा लटकाये आते हैं। पता नही क्या-क्या मिर्च मसाला लगाकर लिख डालते हैं। सब गलत है। मुझकू पेपर पढ़के सुनाया पड़ोस के अब्दुल्ला ने। सब झूठ है। सफेद झूठ है।"

हमने फिर उससे कहा कि "अखबार मे नही लिखेंगे।" तब वह थोडा खिल-खिलाई—"हम समझे कि इस छोकरी के लिए ये दो छोरे आए हैं। इसकी काफी माग है। नई-नई नेपाल से आयी। इसे कामाठीपुरा में बेच रहे थे। मैं उसे यहा ले आई। अब यहां आमदनी कम होती है। पर हम महफूज हैं। ये ही हफ्तेवाला (सप्ताह के सप्ताह अपना कमीशन ले जानेवाला पुलिस का कारिंदा) ले जाता है—चलो एक से हो तंग होगे।"

काछी कही बाहर गई थी। कामरेड शिगारे ने पूछा, "कितनी हो जाती है कमाई।"

मुस्लिम अभिभाविका काफी चतुर थी। वह क्यो बताती सच-सच आकडा।

दुखी होकर बोली—"किसी तरह पेट पल जाता है। आजकल महंगाई कितनी है।" मैं दोपहर को एक मेमसाब के यहां आया का काम करती हूं। छोटे बच्चे को गोद में सुलाकर पार्क में ले जाती हूं। चार-पांच घंटे के दो ढ़ाई सौ मिल जाते हैं। अब कांछी है कि रात को जितना कमा ले।

इतने में कांछी आई। और यह बात वहीं रुक गई। वह गोरे रंग की, चिपटी आंखों की, सुंदर लड़की थी। उसके एक दांत में चांदी जड़ी थी। नाक और कान छिपे थे, जिनमें नकली गहने थे। गले में कई मालाएं थीं। वह नेपाली ढंग की तंग स्कर्ट जैसी साड़ी छाती तक बांधे थी। लंबी बांह का काला ब्लाउज था। कुल मिलाकर बड़ी आकर्षक थी उसकी काली आंखें, काले लंबे बाल और लाल प्रवाल जैसे ओंठ।

मैंने ही थोड़ा साहस करके पूछा—"यहां कोई डाक्टर हैं। बीमार पड़ जाओगी तो कहां जाती हो?"

कांछी हमारी बात समझी ही नहीं। उसने समझा कि यह सौदा पटाने दो पुरुष आये हैं। और समझते हैं कि वह ऐसी-वैसी है। उसने जवाब दिया—"पंद्रह दिन में एक सुई लगा लेते हैं। हम साफ हैं। कोई बीमारी नहीं।"

इस झोंपड़ी से ज़रा आगे बढ़े तो एक तेलुगु परिवार नजर आया। नाक के दोनों नथुनों में बड़े बड़े गोल-गोल नथ जैसे अलंकार पहने एक अधेड़ स्त्री बैठी हुई थी। उसके आस-पास चार-पांच, नौ से चार बरस के बच्चे इधर-उधर कहीं सड़क में चाक से कुछ आड़ी-टेड़ी लकीरें खींचे, कंकड़ रखकर। मर्द यहां भी कम थे। एक-दो शराब पीकर धुत्त खटिया पर औंधे पड़े थे। उनके लिए सूरज उगा था सो भी कोई मानी नहीं रखता था।

हमने उससे बात करने की कोशिश की। पहल आनंद ने ही की—"क्या कोई काम करती हो?"

"क्या काम करेगा सा'ब। कामच्च नहीं मिलती। आप काम दिलायेगा? इतने बाल बच्चों का पेट भरना। और मरद ऐसा निकम्मा···"

इनके लिए हमारे पास क्या कार्यक्रम था?

हम यह सब देखकर भी अंधे बने आगे बढ़ते गये। गरीबी, बेकारी, शहर में कोई किसी से पूछता नहीं, ऐसी हालत में हमने एक और अधेड़ स्त्री को देखा। उसकी झोंपड़ी कुछ साफ सुथरी थी। पर वह हमें देखते ही डर के मारे भीतर भाग गई।

पड़ोस में रहने वाली एक दलित स्त्री ने बताया—"अरे वह आपको क्यों मुंह दिखायेगी? वह तो सफेद पाउडर बेचती है। बीड़ी-सिगरेट में लपेट के देती है। एक-एक बीड़ी के ये साले कश लगाने वाले दस-दस बीस-बीस रुपये देते हैं।

उस झोपड़पट्टी की दुनियां में सब तरह के अपराध जमा हो गए थे। क्योंकि

हर आदमी, औरत और बच्चे को अपना पेट पालना था। वह इस बात की परवाह नहीं करते थे कि पैसा किस मार्ग से आ रहा है। पैसा ही उनके जीवन की धुरी था, धर्म था, प्रथम और अन्तिम आदर्श था।

जहां लाखों-करोड़ों लोग इस तरह की जानवर से भी बदतर जिंदगी बसर करने पर मजबूर थे, वहां हमारे दो चार सहानुभूति के आंसुओं के छींटों से क्या होना था?

पर आनंद उन्हें और भड़कानेवाली बातें कर रहा था। वह उन्हें सिखा रहा था कि वे सब मिलकर के राजनैतिक हिंसा करें। ये अमीरों के मकान जला डालें। उन्हें लूट लें। उनका जीना मुहाल कर दो।

क्या इससे समाधान मिलने वाला था?

एक अंधे रोष की सुरंग से निकलकर और दूसरी गहरी सुरंग में जाने जैसा यह काम था। आनंद बातें क्रांति की करता था, परंतु उसका व्यक्तिगत जीवन विलास से भरा था। अपने गम गलत करने का यह एक तरीका खोज निकाला था उसने।

मैंने जब कुछ बात उठाई कि हां, समानता लाना चाहिए पर वह इस तरह से विदेशी विचार आयातित करके नहीं लाई जा सकती—भारत में भी अनेक समाजवादी हुए और बड़े अच्छे सोचने वाले भी उनमें थे। आचार्य नरेन्द्रदेव, स्वामी सहजानंद, संपूर्णानंद, जयप्रकाश नारायण, लोहिया, यूसुफ मेहरअली, साने गुरुजी···

तो कामरेड शिंगारे गुस्से से भरकर उन्हें गाली देने लगा—ये सब 'लुंपेन' पेटी बुर्जुआ, मध्य वर्ग के दिग्भ्रांत लोग थे। इनका असर जनता पर व्यापक रूप से पड़ा ही नहीं।"

"एक तरफ तुम लोग कहते हो कि क्रांति तो स्फुलिंग की तरह होती है। एक चिंगारी काफी होती है और दूसरी तरफ तुम कहते हो कि ये सब समाजवादी ऊंचे वर्ग से, ऊंचे वर्ण से आए, इसलिए उनका असर बहुत थोड़े से लोगों पर पड़ा। क्या आपकी इन दो बातों में परस्पर विरोध नहीं है?"

शिंगारे बोले—"क्रांति निचले से निचले तबके से बारूदी सुरंग की तरह उठेगी। ये आदिवासी, ये दलित, सबसे गरीब तबके के लोग, ये भूखे-नंगे किसान और मजदूर जिनकी कोई जमीन नहीं, जिनकी कोई निश्चित आय नहीं, वे ही जाएंगे। मार्क्स ने कहा था कि इस वर्ग को सिवा अपनी सांकलें तोड़ने के और कुछ नहीं खोना है। यही सर्वहारा देश में क्रांति लायेंगे। बंगाल में, केरल में उन्हीं का राज है···"

यह स्पष्ट हो गया कि एक विशिष्ट राजनैतिक मत-धारा को लेकर ये झुग्गी-झोंपड़ी वालों में काम करने की बात करते थे। असली मकसद उनका कार्य करने

का नहीं था—न उसकी गरीबी हटाने में, उनमें साक्षरता, स्वावलंबन और स्वाभिमान जगाने का उनका उद्देश्य था। वे तो उनमें असंतोष की आग और भड़काना चाहते थे। वे उस क्रोधाग्नि में तेल छिड़क रहे थे। उनका विश्वास था कि विदेश में कुछ देशों में जैसी सर्वहारा क्रांति ने ज़ार का अन्यायी तख्त उलट दिया, या चांग-काई-शेक की भ्रष्ट सरकार उलट दी—वैसा ही कुछ वे यहां कर गुज़रेंगे।

पर भोले भाव से सब मैंने पूछा कि भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन की स्थापना हुए साठ से ऊपर साल हो गए—बाकायदा पार्टी के रूप में और समाजवादी पार्टी की कांग्रेस से अलग स्थापना को तिरपन वर्ष हो गए—फिर भी जिस समान क्रांति का सपना ये हमारे वयोवृद्ध नेता देखते थे—वह तो प्रत्यक्ष अवतरित नहीं हुआ? ऐसा क्यों हुआ?

क्या हमारे सपने देखने में ही कोई गलती थी?

या यह सपना हम जन-जन तक नहीं फैला सके?

या कि हमारे बोलने और करने में बड़ी खाई थी? जनता को हमारी बातों पर शुरू-शुरू में विश्वास लगा। बाद में देखा कि ये तथाकथित समाजवादी साम्यवादी सब व्यक्तिवादी हो गये—तो उन्हें लगा कि दक्षिण और वाम दोनों एक से ही अविश्वसनीय है और वे इन सब उपदेशकों से उसी तरह ठगे गये, जैसे धर्मोपदेशकों से…

आनंद से मैं डूब गया!

तब एक तीसरे आदर्शवादी युवक की ओर मेरा मन खिंचा। तब मैंने बी०ए० कर लिया था। और सोच रही थी कि कुछ काम करूं। तब यह घटना हुई।

4

विनोद दर्शनशास्त्र में एम.ए. करके उपनगर में एक समाज सेवा केंद्र से जुड़ा हुआ था। यह एक छोटी-सी अंधों के लिए शाला थी, जिसमें गरीब लोगों के लिए आंख का दवाखाना भी खोल दिया था। दवा-दारू की व्यवस्था एक दान देनेवाले कुछ लोगों का ट्रस्ट था, उससे होती थी। जो ऐसे अंधे थे, जो ठीक नहीं हो सकते थे, उन्हें कई तरह के हस्तोद्योग, जैसे चटाई बुनना, टोकरियां बनाना, कागज़ काटना, उनसे लिफाफे बनाना या ठोंगे बनाना, गाना और वाद्य बजाना, सिलाई

की मशीनो पर काम आदि-आदि का बड़ा अच्छा पढाने का इंतजाम था ।

विनोद की विशेषता यह थी कि वह बोलता कम था और काम ज्यादा करता था। सवेरे से शाम तक यह इन अंधा बालक-बालिकाओं के आश्रम में उनकी छोटी से छोटी जरूरत का ध्यान रखता।

कई बराकनुमा कमरे थे। बीस-बीस अंधो पर एक निरीक्षक भी नियुक्त था। लड़कियो के लिए स्त्रियां थी।

सवेरे उठकर, हाथ मुह धोकर सबकी सामूहिक प्रार्थना होती। वे बहुत अनुशासित लोग थे। उन्हें गाना सुनना यही एक मात्र शगल था। एक बड़ा धार्मिक मत सिंह नामक संगीत शिक्षक वहा पर था। सब अंधे उन्हें गुरुजी-गुरुजी कहते थे।

मैं इस संस्था से बहुत प्रभावित हो गई और विनोद और संतसिंह के साथ-साथ मैं भी उस सुधार और शिक्षा के रचनात्मक के कार्यक्रम से जुट गई। शुरू-शुरू में मुझे बहुत उत्साह इस काम में लगा। पर धीरे-धीरे मुझे इस काम की उलझने और समस्या के विराट स्वरूप का ध्यान आने लगा। कई लोगो को समय रहते ही आंखो का आपरेशन कर नयी आंखें लगाई जा सकती थी। कई योंही दृष्टि सुधार दी जा सकती थी। पर इन सबके लिए केवल उत्साह और इच्छा से क्या हो सकता था ? उसके लिये चाहिये थी बहुत-सी धनराशि। बड़ा फंड। और नि:स्वार्थी, त्यागी कार्यकर्ता। वे कहा मिलनेवाले थे।

अधिकांश आंख के विशेषज्ञ डाक्टर पैसा कमाने में लगे थे। मैंने एक डाक्टर का शहर में व्यवहार देखा। रोगी बेचारा आया नही कि वह उसे डरा देता था। "बस, अब तुम जनम के अंधे हो जाओगे। एक आंख मे यह लाल रंग उतरा है, दूसरी भी आख जल्दी से चली जायेगी। पहले से फिक्र क्यों नही की ? अब आये हो।"

रोगी के साथ के लोग गिड़गिड़ाते—"हमे मालूम नही था। हम घरेलू काम कराते रहे। अब हम आपके पास इसी आशय से आये हैं कि आप हमे बचा लें। अगर यह देख नहीं पायेंगे तो इनका सारा कारोबार ठप्प हो जायेगा। ये घड़ी-साज हैं।"

अब वह काइया डाक्टर जब उन्हे काफी मात्रा में डरा-धमका देता तो फिर सीधे पैसे की सौदेबाजी पर आ जाता—

"कितने हजार रुपये लाये हो।"

"डाक्टर साहब आप पैसे की बात न सोचिये। उनकी आंख के आगे हम अपना मकान, जायदाद, गहने सब बेच देंगे—पर आपको दे देंगे। पहले आप उन्हे ठीक करें।"

डॉक्टर उनसे फॉर्म भरवा लेता, जैसे कोई साहूकार सूद लेकर कर्जा देता हो

और उन्हें हर पग-पग पर तंग करता हो।

दूसरे मनुष्य की मजबूरी का फायदा उठाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करनेवाले लोग कितने अधिक हैं, इस देश में। हर सेवाकार्य कारोबार बन गया है। बड़ी-बड़ी संस्थाओं में तो विदेश से आनेवाली कितनी सामग्री सिर्फ कागज पर दिखा दी जाती है कि—गरीबों में बांट दी गई। दूध के पाउडर के डिब्बे बच्चों को मुफ्त दिये। दवाइयां और टीके लगवा दिये गये। और इन सबका करोड़ों का व्यवसाय बीच के बिचौलिये और दलाल करते हैं। परोपकार की ये दूकानें चल रही हैं। गरीबों और गर्जमंदों की मजबूरी का फायदा उठाकर कितने लोग मालामाल हो रहे हैं। मोटे हो रहे हैं। धर्म के नाम पर कितने पंडे-पुजारी, मुल्ला-मौलवी, पादरी और ग्रंथी यही सब कुछ करते आ रहे हैं—सदियों से। अब नये जमाने में विज्ञान के नाम पर, साइंस का आधार लेकर वही ओझागिरी चालू है। जनता बेचारी अंधविश्वासी है। वह जल्दी से अच्छा होना चाहती है। वह चमत्कारों में विश्वास करती है। वह भेड़ है। उसे गड्ढे में ले जानेवाले अनेक गड़रिये हैं…

मैं अंधशाला में तीन चार वर्ष काम करती रही। एक दिन उस संस्था के मुख्य प्राण और संचालक विनोद को मारवाड़ियों ने योंही झूठा इलजाम लगाकर निकाल दिया। वे उसकी सेवाकार्य के कारण बढ़ती हुई प्रतिष्ठा और नामवरी से ईर्ष्या करने लगे थे। वे चाहते थे कि गुलाम की तरह वह काम करे—चूंकि वे उसे मासिक वेतन देते थे—और सारा श्रेय उन्हें मिले।

विनोद यह सब देखकर बहुत दुखी रहने लगा। एक ओर उसका मन उन अंधों के काम से इतना गहरा जुड़ा था कि वह पौधा उसी ने अपने हाथों से लगाया, सींचा, बड़ा किया—और एक दिन उसे वह छोड़ देना पड़ा। जब वह विदा हो रहा था, तो अंधे जार-जार रोये। उन्होंने अपने हाथों से बना-बनाकर कई तोहफे और उपहार उसे दिये।

पर वह वहां नहीं रुका। बाद में वह कहां चला गया। पता नहीं लगा। वह हिमालय में चला गया था ?

जीवन में ऐसे कई लोग आते हैं, और चले जाते हैं। कुछ की याद मन में जमी रहती है, कचोटती है। दूसरे कहीं सिर्फ नाम, चेहरे, कोई दुखद या बहुत अविस्मरणीय घटना के नाते याद रहते हैं। जो स्पष्ट दृश्य पहले था, वह धीरे-धीरे अस्पष्ट होता जाता है।

क्या यह सब कुछ हम चाहते हैं इसलिए होता है ?

या केवल संयोग है ? एक अनदेखी नियति ?

एक 'हां' या 'ना' में जवाब देना मुश्किल है। जिंदगी एक विचित्र पहेली है, जिसमें कई तरह के धागे आकर मिल जाते हैं। उन तारों को उलझाते-उलझाते कई लोगों की पूरी आयु बीत जाती है। जब सारे धागे सुलझ भी जाते हैं, तो

पता चलता है कि इतना परिश्रम व्यर्थ किया। जो बचा था, वह केवल एक शून्य था। एक भारी-भारी-सा खालीपन। ऐसी रिक्तता जो अपूरणीय होती है···

मेरी भी कई बार ऐसी स्थिति हो जाती है।

मैंने बहुत बार कोशिश की है कि किताबों में इस पहेली का कोई हल खोजूं। पर वे कुछ देर तक साथ देती हैं। आगे वे भरमाती हैं। वे दिमाग पर बोझ बना जाती हैं किताबें चश्मा नहीं हैं, कि वे दूर या नजदीक का और अच्छी तरह दिखायें। कई बार किताबें बैल की दोनों आंखों पर, जैसे तेल की घानी में, काला मोटा चश्मा पहना देते हैं, वैसे दृष्टि अवरोधक का काम करती हैं। किताबें पढ़ पढ़कर लोग अंध मूढ़ग्राही बन जाते हैं। हिटलर के अनुयायी उसके 'माइनें कैम्फ' को एक धार्मिक पोथी की तरह मानते थे। माओ के अनुयायी उसकी 'लाल किताब' को। भिंड़रावाले 'ग्रंथी' था। अय्यातोला खोमैनी महामहोपदेश है। किताब को साक्षी रखकर, उसे न मानने वालों को मच्छर-मक्खी की तरह मार देनेवाले इतिहास में अनेक आततायी और अंध-पठित हुए हैं।

कइयों ने तो किताबों से डरकर लाइब्रेरियां जला डाली हैं। नालंदा के महा-ग्रंथागारों को भस्मीभूत कर दिया गया। कुस्तुनुनिया की कुतुबखाने को जलाने पर लगी आग हफ्तों तक नहीं बुझी। इतिहास साक्षी है।

पर आदमी अपना गुस्सा किताब पर उतारता है। क्या विचित्र बात है? किताब उसीकी बनाई हुई है। इसी से मुझे संगीतकार सतसिंह की कहानी याद आ गई। वह हमारी अवशाला में पहले भजन गाता था। फिर वह संगीतशिक्षक बन गया। बड़ा ही भोला और भला आदमी था वह। उसकी जात-पात का पता नहीं था। न धर्म का, न किसी और चीज का—कौन थे उसके मां-बाप कोई नहीं जानता। पर उसका बचपन जरूर दुख में बीता होगा। वह कम बोलता था। पर विनोद ही उसे लाया था। और विनोद उसे बहुत चाहता था। अंधों में काम करते-करते, उसमें यह विचारों का अंधापन कैसे आ गया, यह मेरी समझ में आज तक नहीं आया।

5

कहते हैं प्रेम अंधा होता है। अंध आश्रम में एक बहुत सुंदर, गोरी, बिना मां-बाप की लड़की आ गई थी। उसे सब लोग अरुणा-अरुणा कहते थे। उसकी आवाज बड़ी

मीठी थी।

संतसिंह उसे संगीत पढ़ाने लगा।

धीरे-धीरे संतसिंह उसका विशेष ध्यान रखने लगा। उसके लिए मिठाई और फल चुपके से लाकर देता। उसे संगीत कक्षा में अधिक महत्व देता। आश्रम में गाना गाने वाले लड़के-लड़कियों का एक जत्था बना। अरुणा को उसका मुखिया संतसिंह ने बनाया।

यहां तक तो यह वात्सल्य ठीक था। दोनों की उम्र में बड़ा फर्क था। और कभी किसी को इस बात की स्वप्न में कल्पना भी नहीं थी कि संतसिंह एक दिन उससे विवाह का प्रस्ताव कर बैठेगा।

हो सकता है संतसिंह के जीवन में बचपन में ही प्रेम की बड़ी कमी रही हो और इस कारण से यहां भी उसे प्रेम का कोई भी तिनका मिलता तो वह डूबते का सहारा बन जाता था।

संतसिंह की यह बात आश्रयवासियों को बड़ी विचित्र लगी। आश्रम के अनुशासन में एक खलबली-सी मच गई।

सबकी चर्चा का विषय बन गया।

विनोद ने कहा कि—"भाई संतसिंह, यह तुम्हारा अपना प्रस्ताव है, पर तुमने कभी सोचा है कि लड़की को भी इस बात में कोई रजामंदी है या नहीं? उसकी क्या इच्छा है? हम उस पर जबर्दस्ती नहीं करना चाहते।"

आश्रम में कुछ लोगों को यह भी पता था कि संतसिंह अपनी पहली बीवी को छोड़कर चला आया था। उसकी बीवी बेचारी एक गरीब मास्टरनी अपना गुज़र-बसर करती थी। उनका कोई बालबच्चा नहीं हुआ था।

सो विनोद ने अरुणा को विश्वास में लेकर पूछा—"तुम्हारी क्या इच्छा है? क्या संतसिंह के साथ शादी करके जाना चाहती हो?"

"नहीं तो। मैंने तो ऐसा कभी नहीं सोचा। मैं तो उन्हें सदा अपने गुरु की तरह मानती थी। मुझसे वे कितने बड़े हैं। और ऐसी एक अन्धी बीवी उनके ऊपर तो भार ही होगी। मैं उनकी क्या सेवा कर पाऊंगी।"

विनोद को लगा कि संतसिंह का प्रस्ताव एकतर्फा है। और यह बात ठीक नहीं है।

उन्होंने संतसिंह को सूचित कर दिया कि आश्रम के नियमों के अनुसार यह विवाह हो नहीं सकता। चूंकि लड़की की मर्जी आश्रम की आजीवन सेवा करने की हैं। वह विवाह नहीं करना चाहती।

संतसिंह का जैसे दिल टूट गया। उसने आश्रम की संगीत शिक्षक की नौकरी से त्याग पत्र दे दिया। और बाद में कहां चला गया। पता नहीं।

किसी ने बाद में बताया कि वह आतंकवादी हो गया। यह सच भी हो, झूठ

भी हो, निरी अफवाह भी हो, तो कोई अचरज नहीं। ऐसे प्रेमभंग हुए लोग बाद में बहुत से ऐसे कार्य कर गुजरते हैं कि कहा नहीं जा सकता। वे बदला भी लेते हैं। क्रांतिकारी हो जाते हैं। वह उनमें के अच्छे संत और महाकवि भी हो गये। मनुष्य के चित्त का कब क्या उचाट हो जाये कहा नहीं जा सकता।

आस्कर वाइल्ड ने लिखा था। "एवरी सेंट हैज ए पास्ट, एवरी सिना हैज ए फ्यूचर" (हर संत का अतीत होता है, हर पापी का भविष्यत्)

लोगों ने वाल्मीक के प्राचेतस् के पीछे वाल्या डाकू की कहानी जोड़ दी। मरा, मरा' कहते कहते वह 'राम राम' कहने लगा। और भी कई पश्चाताप में परितप्त, हृदय परिवर्तित अनेक अगुलियालों की कहानियां हैं। सब सच हों यह जरूरी नहीं, पर उसमें से एक बात स्पष्ट होती है कि मनुष्य में अनंत संभावनाएं हैं।

रात में कोहरा हो। सामने के दोनों रास्ते साफ दिखाई न देते हों। 'ब्लाइंड स्पौट' सड़क के सामने ही हो, और मनुष्य अपने विवेक से एक रास्ता चुन लेता है। कई बार तो रास्ता उसे कहीं-का-कहीं पहुंचा देता है। कई बार उसका चुनाव ही गलत हो जाता है।

जैसे संतसिंह का अरुणा के बारे में चुनाव···

या अरुणा का संतसिंह के बदले अनब्याहे सेवा मार्ग का रास्ता चुनना···

हम कौन होते हैं कि पाप-पुण्य का निर्णय दें? कि यह अच्छा हुआ, या बुरा हुआ? क्या उस व्यक्ति की वह नियति नहीं थी? एक अदृष्ट, अनबूझ, अनदेखी राह।

वांछित या अवांछित?

सचेतन या अचेतन?

मैं सोचते सोचते हार जाती हूं क्योंकि बार-बार फिर मैं उसी बिंदु पर लौट आती हूं कि जब मैं साफ-साफ देख सकती थी, उसके बाद भी मैंने कई बातों की क्यों अनदेखी की? क्या मुझे ऐसा करने का अधिकार था? यह मेरी यह कोई अघसंस्कारों की, भीतर की, खींचकर ले जाने वाली ऐसी प्रेरणा थी, जिसका कारण खोजे नहीं मिलता।

घटनाओं पर घटनाएं उनमें जमा होती जाती हैं। मैं फिर संगीतज्ञ संतसिंह और उस नेत्रहीन गौरवर्ण अरुणा की बात सोचती [illegible]। अगर यह बात सच है कि संतसिंह बाद में आतंकवादी बन गया, तो क्या उसका कारण यह था कि अरुणा ने उससे शादी करने से इनकार कर दिया। हम ऐसी घटनाओं का बड़ा सरल-सा अर्थ लगाने के आदी हो गये हैं। हमारे अखबार, हमारे जन-संचार माध्यम, सिनेमा, रेडियो, दूरदर्शन ये सब हमें इस बात पर बाध्य करते हैं कि हम सत्य को सरलीकृत कर डालें। सब कुछ हमें फार्मूले के रूप में। गुटका या कैपसूल के रूप

में मिल जाय। यह बात ठीक नहीं है। सत्य कभी भी इतना सरल या सीधा नहीं होता। दूर से हिमालय के शिखर ऐसे अछूते अखंड हिम से मंडित, शांत, मौन, शिव के अट्टहास जैसे चाहे लगें—उन तक पहुंचने का मार्ग इतना प्रशस्त और आसान नहीं।

हजारों लोगों की जानें उस आरोहण में चली गईं। पर मनुष्य है कि वह उन शिखरों को 'अधिगम्य' मानकर अब भी अपने आपको छलता रहता है। पर हैं वे 'अधृष्य' कालिदास के शब्दों में।

मनुष्य के भीतर क्या है, जो उसे सहसा उद्वेलित कर देता है। वह सुप्त लावा कैसे उद्रेक करके फूट पड़ता है। अभी तो बड़े-बड़े भूगर्भवेत्ता तक धरती के भीतर के भूमिकंप, ज्वालामुखियों के सहसा उफान की पूरी कहानी नहीं पाये हैं। जबकि पृथ्वी, पत्थर यह सब जड़, हमारे वैज्ञानिक उपकरणों से जिसका परीक्षण निरीक्षण और परिमाण और परिगणन किया जा सकता हैं, ऐसे जड़ पदार्थ हैं।

तब कल्पना कीजिये इसी मिट्टी, इसी पानी, इसी हवा, आग और आकाश से बना यह आदमी, इसके भीतर कितने रहस्य के तहखाने छिपे हैं। लोग कितने बावरे हैं कि उसे करने के बजाय वे रहस्य कथाएं और जासूसी उपन्यास पढ़ते हैं।

मनुष्य आतंकवादी क्यों बन जाता है?

कुछ लोग कहते हैं यह नस्लवाद का रोग है। यानी उसकी रक्तमज्जा; हड्डी, स्नायु तंतु सबमें इसके कहीं-न-कहीं क्षण छिपे रहते हैं। रक्तबीज में ही क्रोध, हिंसा, प्रतिघात के कुछ क्रिया-प्रतिक्रियात्मक तत्व छिपे रहते हैं।

यह 'नस्लवाद का भूत कई एकाधिकार प्रधान धर्म पर अंधविश्वास और अपने से इतर को नष्ट करने की वृत्तियों से उपजा। इसका लाभ इतिहास में सब आततायियों ने उठाया। रोम के नीरो और मध्ययुग के चंगेज खां और नादिरशाह, तैमूरलंग और हूण-वंश के क्रूर राजाओं को छोड़ भी दें तो आधुनिक काल में उन्नीसवीं-बीसवीं सदी में इस तरह के मानवता के साथ रक्त रंजित अमानवी मजाक करने वाले क्या कम लोग हुए?

यूरोप में ही हिटलर, मुसोलिनी, स्तालिन···

और शेष विश्व में माओ, तोजो, ईदी अमीन···

क्या ये और इन जैसे और अनेक राजनैतिक हत्याएं करने वाले भोले-भाले जनसाधरणों को आतंकित नहीं करना चाहते थे?

इनके उद्देश्य क्या अपनी नस्ल, अपने वंश, अपने मतवाद अपनी विचारधारा को ही एकमात्र और श्रेष्ठतम मानकर आरोपित करना नहीं था?

ये सब एक तरह से सत्तांध, शक्ति से मदांध लोग थे। आज भी हैं। इस अंधता का कोई इलाज है?

में मिल जाय। यह बात ठीक नहीं है। सत्य कभी भी इतना सरल या सीधा नहीं होता। दूर से हिमालय के शिखर ऐसे अछूते अखंड हिम से मंडित, शांत, मौन, शिव के अट्टहास जैसे चाहे लगें—उन तक पहुंचने का मार्ग इतना प्रशस्त और आसान नहीं।

हजारों लोगों की जानें उस आरोहण में चली गई। पर मनुष्य हैं कि वह उन शिखरों को 'अधिगम्य' मानकर अब भी अपने आपको छलता रहता है। पर हैं वे 'अधृष्य' कालिदास के शब्दों में।

मनुष्य के भीतर क्या है, जो उसे सहसा उद्वेलित कर देता है। वह सुप्त लावा कैसे उद्रेक करके फूट पड़ता है। अभी तो बड़े-बड़े भूगर्भवेत्ता तक धरती के भीतर के भूमिकंप, ज्वालामुखियों के सहसा उफान की पूरी कहानी नहीं पाये हैं। जबकि पृथ्वी, पत्थर यह जब जड़, हमारे वैज्ञानिक उपकरणों से जिसका परीक्षण निरीक्षण और परिमाण और परिगणन किया जा सकता है, ऐसे जड़ पदार्थ हैं।

तब कल्पना कीजिये इसी मिट्टी, इसी पानी, इसी हवा, आग और आकाश से बना यह आदमी, इसके भीतर कितने रहस्य के तहखाने छिपे हैं। लोग कितने बावरे हैं कि उसे करने के बजाय वे रहस्य कथाएं और जासूसी उपन्यास पढ़ते हैं।

मनुष्य आतंकवादी क्यों बन जाता है?

कुछ लोग कहते हैं यह नस्लवाद का रोग है। यानी उसकी रक्तमज्जा; हड्डी, स्नायु तंतु सबमें इसके कहीं-न-कहीं क्षण छिपे रहते हैं। रक्तबीज में ही क्रोध, हिंसा, प्रतिघात के कुछ क्रिया-प्रतिक्रियात्मक तत्व छिपे रहते हैं।

यह 'नस्लवाद का भूत कई एकाधिकार प्रधान धर्म पर अंधविश्वास और अपने से इतर को नष्ट करने की वृत्तियों से उपजा। इसका लाभ इतिहास में सब आततायियों ने उठाया। रोम के नीरो और मध्ययुग के चंगेज खां और नादिरशाह, तैमूरलंग और हूण-वंश के क्रूर राजाओं को छोड़ भी दें तो आधुनिक काल में उन्नीसवीं-बीसवीं सदी में इस तरह के मानवता के साथ रक्त रंजित अमानवी मजाक करने वाले क्या कम लोग हुए?

यूरोप में ही हिटलर, मुसोलिनी, स्तालिन···

और शेष विश्व में माओ, तोजो, ईदी अमीन···

क्या ये और इन जैसे और अनेक राजनैतिक हत्याएं करने वाले भोले-भाले जनसाधरणों को आतंकित नहीं करना चाहते थे?

इनके उद्देश्य क्या अपनी नस्ल, अपने वंश, अपने मतवाद अपनी विचारधारा को ही एकमात्र और श्रेष्ठतम मानकर आरोपित करना नहीं था?

ये सब एक तरह से सत्तांध, शक्ति से मदांध लोग थे। आज भी हैं। इस अंधता का कोई इलाज है?

हमने उसके आरंभ में ही सख्त इलाज क्यों नहीं किया।

आज हम अपने ही द्वारा भस्मासुर के यों शिकार हो जाते हैं। एटम बम कोई भगवान ने नहीं भेजा हमने ही उसे, अपनी बुद्धि से, ईजाद किया। वही हाल है सब अ-सामाजिक बुराइयों का है।

पर ये सब बातें हम देखी-अनदेखी करते आये। अब अंधापन कैसे फैला हम पर हम से मिनार करते हैं।

6

विनोद ने अन्ध-आश्रम का साथ छोड़ दिया और मैंने भी।

जिन्दगी इसी तरह प्रवाहपति की तरह बीतती रही। अब मेरे सामने प्रश्न था अपनी आजीविका का। मेरे पास उपाधि थी, स्नातकोत्तर। पर उससे केवल पढ़ाने का काम ही मैं कर सकती थी। पर वह काम मेरी नजर में कोई काम नहीं था। मैं कुछ समाज सेवा करना चाहती थी, दुखियों और गरीबों की मदद करना चाहती थी। पर उस राह में मुझे कांटे ही कांटे मिलते चले गये।

उदाहरण के लिए मैं सबसे पहले एक समाज-सेवा केंद्र में काम करने गई। यह एक स्वैच्छिक संस्था थी। कुछ धनी-मानी लोगों ने दान देकर इसे बनाया था सरकार भी काफी आर्थिक मदद देती थी। बड़ा नाम था संस्था का। दूर के ढोल सुहावने ही लगते हैं।

मैं और पास में गई तो मुझे क्या अनुभव आया वह सुनाती हूं। इस संस्था के पांच हिस्से थे—एक अनाथालय चलता था, एक विधवाओं को स्वावलम्बी बनाने वाला विभाग था, एक में निरक्षरता दूर करके नव-साक्षर बनाने का कार्यक्रम था, चौथे में जो गांव में बेकार युवक बैठे हैं उन्हें स्वावलम्बी बनाने का, रोजगार दिलाने, छोटे रोजगार शुरू करने के लिए कर्जा देने का विभाग था, पांचवें विभाग में होम्यापैथी और दूसरी दवाइयां मुफ्त बांटने की एक चिकित्सा-शाला थी।

अब इन पांचों विभागों के अलग-अलग तरह के विभागीय अध्यक्ष थे। स्त्रियों की व्यावसायिक शिक्षा की, और साक्षरता के कार्यक्रम की प्रधान स्त्रियां थीं। और शेष तीन विभागों के पुरुष थे। मैं इस संस्था में छह वर्षों तक रही। और एक-एक विभाग में मैंने एक-एक वर्ष से अधिक बिताया। मेरे अनुभव कुछ अच्छे नहीं

हमने उसके आरंभ में ही सख्त इलाज क्यों नहीं किया।

आज हम अपने ही द्वारा भस्मासुर के यों शिकार हो जाते हैं। एटम बम कोई भगवान ने नहीं भेजा हमने ही उसे, अपनी बुद्धि से, ईजाद किया। वही हाल है सब अ-सामाजिक बुराइयों का है।

पर ये सब बातें हम देखी-अनदेखी करते आये। अब अंधापन कैसे फैला हम पर हम से मिनार करते हैं।

6

विनोद ने अन्ध-आश्रम का साथ छोड़ दिया और मैंने भी।

ज़िन्दगी इसी तरह प्रवाहपति. की तरह बीतती रही। अब मेरे सामने प्रश्न था अपनी आजीविका का। मेरे पास उपाधि थी, स्नातकोत्तर। पर उससे केवल पढ़ाने का काम ही मैं कर सकती थी। पर वह काम मेरी नजर में कोई काम नहीं था। मैं कुछ समाज सेवा करना चाहती थी, दुखियों और गरीबों की मदद करना चाहती थी। पर उस राह में मुझे कांटे ही कांटे मिलते चले गये।

उदाहरण के लिए मैं सबसे पहले एक समाज-सेवा केंद्र में काम करने गई। यह एक स्वैच्छिक संस्था थी। कुछ धनी-मानी लोगों ने दान देकर इसे बनाया था सरकार भी काफी आर्थिक मदद देती थी। बड़ा नाम था संस्था का। दूर के ढोल सुहावने ही लगते हैं।

मैं और पास में गई तो मुझे क्या अनुभव आया वह सुनाती हूं। इस संस्था के पांच हिस्से थे—एक अनाथालय चलता था, एक विधवाओं को स्वावलम्बी बनाने वाला विभाग था, एक में निरक्षरता दूर करके नव-साक्षर बनाने का कार्यक्रम था, चौथे में जो गांव में बेकार युवक बैठे हैं उन्हें स्वावलम्बी बनाने का, रोजगार दिलाने, छोटे रोजगार शुरू करने के लिए कर्जा देने का विभाग था, पांचवें विभाग में होम्यापैथी और दूसरी दवाइयां मुफ्त बांटने की एक चिकित्सा-शाला थी।

अब इन पांचों विभागों के अलग-अलग तरह के विभागीय अध्यक्ष थे। स्त्रियों की व्यावसायिक शिक्षा की, और साक्षरता के कार्यक्रम की प्रधान स्त्रियां थीं। और शेष तीन विभागों के पुरुष थे। मैं इस संस्था में छह वर्षों तक रही। और एक-एक विभाग में मैंने एक-एक वर्ष से अधिक बिताया। मेरे अनुभव कुछ अच्छे नहीं

रहे। मैं एक-एक कर अपनी दिक्कतें बताती हूं।

सबसे पहले मैं अनाथालय को लेती हूं। इसके प्रमुख थे एक राजस्थानी सज्जन। वे राजस्थानी लड़कों को ही प्राथमिकता देते थे। यह बात भी मेरी समझ में आ सकती थी। पर वे राजस्थान से इतर प्रदेशों के लोगों को हीन समझते थे। उनका यह दावा था कि रेगिस्तानी जमीन वाली अपनी मातृभूमि को छोड़कर हजारों मील दूरी पर ये बन्दे व्यापार करने जाते हैं तो कितना शारीरिक, मानसिक, सांस्कृतिक उच्छिन्नता का कष्ट वे चुनते थे। उनके जैसा साहसी, सहिष्णु और स्वावलम्बी और कोई भारतीय है ही नहीं। परिणाम यह हुआ कि अनाथालय में उन्होंने अपना ही घर का रिश्तेदार हिसाब-किताब देखने वाला इकाउण्टेंट बनाकर लगा लिया। यह गरीब लड़का बी-कॉम की परीक्षा दे रहा था, और आंशकालिक रूप में आकर संस्था का काम भी करता था। घर का बहुत गरीब था। पिता बचपन में मर गए थे। मां और छोटे पांच भाई-बहनों का पेट पालना था।

तो शुरू-शुरू में तो वह बहुत प्रामाणिकता से काम करता था। हर चीज का ठीक-ठीक हिसाब रखता, पाई-पाई की निगरानी रखता, पर धीरे-धीरे जब विदेश से दान में दूध के पाउडर के डिब्बे, और इस तरह की कई चीजें, खाने की और ओढ़ने-पहनने की, किताबें और स्टेशनरी मुफ्त में आने लगी, उसने सोचा कि क्यों न यह अच्छी-अच्छी चीजें, थोड़ी-थोड़ी चोरी-चुपके अपने घर में ही ले जाऊं। बाद में उसने उस अनाथालय के भण्डार रक्षक (स्टोर-कीपर) को अपने साथ मिला लिया। कागज पर सब चीजें अच्छी तरह वितरित और काम में लाई गईं, दिखाई गईं। पर भीतर-भीतर ये दोनों मिलकर इस दान में से मुनाफा कमाने लगे, अमानत में खयानत करने लगे।

मैं वहां बच्चों की देखभाल पर नियुक्त थी। एक तरह से वहीं रहकर कामकाज की पर्यवेक्षिका का कार्य था। मुझे भी वे बहुत वेतन देते थे। धीरे-धीरे दोनों ने—लेखापाल और भण्डार-रक्षक ने मुझे साम-दाम से पटाना चाहा। एक कोई विदेश से बढ़िया उपहार पैकिट आया था। रूमाल थे, या कोई डिब्बा-बन्द खाद्य-सामग्री थी। मुझे भी एक पैकेट देते हुए उस लेखापाल ने कहा—"मैडम, आप भी रख लो। बहुत ज्यादा हैं। इतने तो बच्चों के काम में नहीं आयेंगे।"

मैंने कहा—"दान की चीज है, मैं नहीं रखना चाहती।"

भण्डार-रक्षक ने कहा—"हम सभी एक तरह से अनाथ ही हैं। देश को चलाने वालों ने हमें सबको अपंग बना दिया है। विकलांग दान लेने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यह आया तो भारतवासियों के लिए है। हम भी वही हैं।"

मैं जब किसी तरह राजी नहीं हुई, तो उन्होंने दूसरा उपाय सोचा। एक दिन

हमने उसके आरंभ में ही सख्त इलाज क्यों नहीं किया।

आज हम अपने ही द्वारा भस्मासुर के यों शिकार हो जाते हैं। एटम बम कोई भगवान ने नहीं भेजा हमने ही उसे, अपनी बुद्धि से, ईजाद किया। वही हाल है सब अ-सामाजिक बुराइयों का है।

पर ये सब बातें हम देखी-अनदेखी करते आये। अब अंधापन कैसे फैला हम पर हम से मिनार करते हैं।

6

विनोद ने अन्ध-आश्रम का साथ छोड़ दिया और मैंने भी।

जिन्दगी इसी तरह प्रवाहपति की तरह बीतती रही। अब मेरे सामने प्रश्न था अपनी आजीविका का। मेरे पास उपाधि थी, स्नातकोत्तर। पर उससे केवल पढ़ाने का काम ही मैं कर सकती थी। पर वह काम मेरी नजर में कोई काम नहीं था। मैं कुछ समाज सेवा करना चाहती थी, दुखियों और गरीबों की मदद करना चाहती थी। पर उस राह में मुझे कांटे ही कांटे मिलते चले गये।

उदाहरण के लिए मैं सबसे पहले एक समाज-सेवा केंद्र में काम करने गई। यह एक स्वैच्छिक संस्था थी। कुछ धनी-मानी लोगों ने दान देकर इसे बनाया था सरकार भी काफी आर्थिक मदद देती थी। बड़ा नाम था संस्था का। दूर के ढोल सुहावने ही लगते हैं।

मैं और पास में गई तो मुझे क्या अनुभव आया वह सुनाती हूं। इस संस्था के पांच हिस्से थे—एक अनाथालय चलता था, एक विधवाओं को स्वावलम्बी बनाने वाला विभाग था, एक में निरक्षरता दूर करके नव-साक्षर बनाने का कार्यक्रम था, चौथे में जो गांव में बेकार युवक बैठे हैं उन्हें स्वावलम्बी बनाने का, रोजगार दिलाने, छोटे रोजगार शुरू करने के लिए कर्जा देने का विभाग था, पांचवें विभाग में होम्यापैथी और दूसरी दवाइयां मुफ्त बांटने की एक चिकित्सा-शाला थी।

अब इन पांचों विभागों के अलग-अलग तरह के विभागीय अध्यक्ष थे। स्त्रियों की व्यावसायिक शिक्षा की, और साक्षरता के कार्यक्रम की प्रधान स्त्रियां थीं। और शेष तीन विभागों के पुरुष थे। मैं इस संस्था में छह वर्षों तक रही। और एक-एक विभाग में मैंने एक-एक वर्ष से अधिक बिताया। मेरे अनुभव कुछ अच्छे नहीं

रहे। मैं एक-एक कर अपनी दिक्कतें बताती हूं।

सबसे पहले मैं अनाथालय को लेती हूं। इसके प्रमुख थे एक राजस्थानी सज्जन। वे राजस्थानी लड़कों को ही प्राथमिकता देते थे। यह बात भी मेरी समझ में आ सकती थी। पर वे राजस्थान से इतर प्रदेशों के लोगों को हीन समझते थे। उनका यह दावा था कि रेगिस्तानी जमीन वाली अपनी मातृभूमि को छोड़कर हजारों मील दूरी पर ये बन्दे व्यापार करने जाते हैं तो कितना शारीरिक, मानसिक, सांस्कृतिक उच्छिन्नता का कष्ट वे चुनते थे। उनके जैसा साहसी, सहिष्णु और स्वावलम्बी और कोई भारतीय है ही नहीं। परिणाम यह हुआ कि अनाथालय में उन्होंने अपना ही घर का रिश्तेदार हिसाब-किताब देखने वाला इकाउण्टेंट बनाकर लगा लिया। यह गरीब लड़का बी-कॉम की परीक्षा दे रहा था, और आशकालिक रूप में आकर संस्था का काम भी करता था। घर का बहुत गरीब था। पिता बचपन में मर गए थे। मां और छोटे पांच भाई-बहनों का पेट पालना था।

तो शुरू-शुरू में तो वह बहुत प्रामाणिकता से काम करता था। हर चीज का ठीक-ठीक हिसाब रखता, पाई-पाई की निगरानी रखता, पर धीरे-धीरे जब विदेश से दान में दूध के पाउडर के डिब्बे, और इस तरह की कई चीजें, खाने की और ओढ़ने-पहनने की, किताबें और स्टेशनरी मुफ्त में आने लगी, उसने सोचा कि क्यों न यह अच्छी-अच्छी चीजें, थोड़ी-थोड़ी चोरी-चुपके अपने घर में ही ले जाऊं। बाद में उसने उस अनाथालय के भण्डार रक्षक (स्टोर-कीपर) को अपने साथ मिला लिया। कागज पर सब चीजें अच्छी तरह वितरित और काम में लाई गईं, दिखाई गईं। पर भीतर-भीतर ये दोनों मिलकर इस दान में से मुनाफा कमाने लगे, अमानत में खयानत करने लगे।

मैं वहां बच्चों की देखभाल पर नियुक्त थी। एक तरह से वहीं रहकर काम-काज की पर्यवेक्षिका का कार्य था। मुझे भी वे बहुत वेतन देते थे। धीरे-धीरे दोनों ने—लेखापाल और भण्डार-रक्षक ने मुझे साम-दाम से पटाना चाहा। एक कोई विदेश से बढ़िया उपहार पैकिट आया था। रूमाल थे, या कोई डिब्बा-बन्द खाद्य-सामग्री थी। मुझे भी एक पैकेट देते हुए उस लेखापाल ने कहा—"मैडम, आप भी रख लो। बहुत ज्यादा हैं। इतने तो बच्चों के काम में नहीं आयेंगे।"

मैंने कहा—"दान की चीज है, मैं नहीं रखना चाहती।"

भण्डार-रक्षक ने कहा—"हम सभी एक तरह से अनाथ ही हैं। देश को चलाने वालों ने हम सबको अपंग बना दिया है। विकलांग दान लेने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यह आया तो भारतवासियों के लिए है। हम भी वही हैं।"

मैं जब किसी तरह राजी नहीं हुई, तो उन्होंने दूसरा उपाय सोचा। एक दिन

कार्यालय के कर्मचारियों का सम्मेलन (वार्षिक दिन या ऐसा ही नाम देकर) बुलाया। उसमें कोई गाने की, खेलकूद की प्रतियोगिता रखी। मुझे निर्णायक बनाया। फिर मुझे सबके साथ उपहार रूप में वही दान में आई वस्तुएं दीं। उस बार तो मैंने वह पैकेट ले लिया। पर मेरा मन मुझे कोंचता रहा।

बाद में उसकी हिम्मत बढ़ी। उसने एक दिन कहा—"मैडम, अबकी बार विदेश से कुछ रसोईघर के काम के गैजेट आये हैं। अब आप देख रही हैं कि ये सब तो बिजली से चलने वाले उपकरण हैं। अपने बड़े रसोई में तो बिजली है ही नहीं। खर्चा भी उनसे बहुत बढ़ेगा। आप ही इस मिक्सी को रख लो।"

मैंने कहा—"मैं अकेली हूं। इतनी बड़ी चीज लेकर क्या करूंगी।

"नहीं, नहीं, हम मुफ्त में नहीं देंगे। कुछ टोकन दाम दिखाकर आपकी तनखा में से काट लेंगे। किसी को कोई आपत्ति भी नहीं होगी। अनाथालय के निर्देशक जैसे साहब तो कई बार ऐसी चीजें अपने घर में रख ली हैं।"

मुझे यह सब बहुत बुरा लगा। पर जब मैं बिल्कुल मानने को तैयार नहीं हूं, ऐसा उन्होंने देखा, तो उन्हें डर लगा कि कहीं उन सब लोगों की मिली-भगत और भ्रष्टाचार की बातें मैं कहीं औरों से कह न दूं, इसलिए उन्होंने अब तय किया कि मेरा सब बातों में बहिष्कार करें। पहले वे मुझे विश्वास में लेकर सब बातें करते थे। अनाथ बच्चों ने ही डरते-डरते मुझसे शिकायतें कीं, और यह सब पोल खुलने को थी, कि उन्होंने अन्तिम अस्त्र का प्रयोग किया।

मेरे पास तब कोई एक बाहर का ड्राइंग टीचर बहुत आता था। अनाथालय में वह बंगाली कलाकार फुरसत के समय में बच्चों को ड्राइंग-पेंटिंग सिखाता था।

अब लेखपाल—भण्डारक्षक साहब इसी बात पर फुसफुसाकर बदनामी फैलाने लगे कि—"देखो, नौजवान मास्टरनी थी—पढ़ाना-लिखाना छोड़कर यहां अकेली रहती है। कैसे-कैसे अजनबी लोगों को अपने कमरे में बैठाये रखती है। उनके लिए चाय बनाती है।" और ऐसी ही पचासों मिर्च-मसाला मिश्रित कर अफवाहें। झूठ के तो पांव नहीं होते। वह जंगली आग को फैलते हुए कितनी देर लगती है।

अन्ततः अनाथालय की सुपरिटेंडेंट के पद से मुझे एक दिन स्थानान्तरित कर दिया। विधवाश्रम की स्त्रियों के स्वावलम्बन-विभाग में। इस स्थानान्तरण का कोई कारण नहीं दिया गया।

विधवाओं को सिलाई की मशीनें दी गई थीं। वे कपड़ा सीकर अपना पेट भरती थीं। और भी कई तरह की दस्तकारियां थीं। जैसे खिलौने बनाने का काम। मुझे इस तरह के हस्तोद्योग में बहुत रुचि थी, पर यहां भी मेरे साथ जो हुआ, वह कम दिलचस्प नहीं था।

इस विभाग की प्रधान थीं एक दक्षिण भारतीय महिला श्रीमती पिल्लई। वे

स्वयं विधवा थी और बहुत गुस्सैल और चिड़चिड़ी थी। यह सारा गुस्सा उत्तर भारतीयों पर उतारती थी। वे खुद टूटी-फूटी हिन्दी बोलती थी। पर उनके लेखे सबको अंग्रेज़ी भाषा जानना बहुत आवश्यक था। जो अंग्रेज़ी न जाने, वह उनके लेखे कुछ हलका इनसान था। मैं जानबूझकर उनसे हिन्दी में ही बोलती थी।

वे बात-बेबात मुझसे उलझ पड़ती थी। एक दिन खिलौना बनाने की एक कक्षा में एक बेचारी विधवा ने एक गरीब स्त्री की मिट्टी की मूर्ति बनाई और उसे दक्षिण भारतीय ढंग से एक सफेद साड़ी पहना दी। वह दिखाना चाहती थी कि यह कमर झुकी आदिवासी बुढ़िया लकड़ी के गट्ठर का बोझ सिर पर उठाए, एक हाथ से लकड़ी थामे, लकड़ी बेचकर पेट पाल रही है। अब श्रीमती पिल्लई उस पर इसी बात गुस्सा हो गई कि—"इस को साड़ी तुमने हमारे माफिक बनाया साउथ इंडियन क्या सब भिखारी होते है?"

उस बेचारी विधवा ने एक चित्र और फोटो पुस्तक से दिखाया जिसके आधार पर उसने इस मिट्टी के खिलौने की प्रतिमा का जूड़ा बनाया था और पहनावा बनाया था। पर बस, श्रीमती पिल्लाई ने उसे गुस्से में तोड़ डाला।

मैंने विनम्रता से कहा—"आपने यह ठीक नहीं किया। बेचारी का उत्साह ठण्डा हो जायेगा। उसका दिल बैठ जाएगा।

श्रीमती पिल्लाई अब मुझ पर क्रोध बरसाने लगी—"तुमने ही उसे ऐसा बनाने के लिए उकसाया। तुम सब लोग मेरी नौकरी छुड़वाने पर लगी हो। यहां से मैं चली जाऊंगी, पर जाऊंगी तभी आपको चैन आएगी।" और भी बहुत कुछ बुदबुदाती चली गई।'

मैंने इस बात की लिखित शिकायत ऊपर के अधीक्षक को कर दी। श्रीमती पिल्लाई साफ झूठ बोल गई—"मैंने उस खिलौने को नहीं तोड़ा। यह तो दर्शना और उस विधवा ने मिलकर उसे धक्का देकर गिरा दिया, और मेरे ऊपर झूठा आरोप लगा रहे हैं।"

अब यहा पर हम तीनों के अलावा चौथी स्त्री तो कोई थी नही। अब कैसे सिद्ध हो, कि क्या सचमुच में हुआ?

इस तरह से अब वह मुझसे ईर्ष्या करने लगी और एक-एक बहाना बनाकर उसने मुझे विभाग से निकाल कर ही छोड़ा।

तीसरा विभाग साक्षरता का था। यहां जो प्रधान संचालिका थी, वह अजीब स्त्री थी। वह अपने को गांधीवादी कहती थी। चाय भी नहीं पीती थी। सवेरे-शाम प्रार्थना करती थी। घर में सब तरह के साधु-महात्माओं के चित्र लगा रखे थे। हमेशा उपदेश देती रहती थी।

मैं सुविधा के लिए पश्चिमी ढंग से रहना पसन्द करती थी। मैंने अपने बाल कटा लिये थे और फ्राक पहनती थी। ऊंची एड़ी के सेंडिल भी। यह सब बातें इन

कुमारी लीलावती जी को बहुत अखरती थीं। अतः पहले तो उन्होंने सामान्य रूप से सारे पश्चिमी ढंग के रहन-सहन को कोसना शुरू किया। फिर इन्होंने मेरे विरोध में बोलना शुरू किया—इन साक्षरों के सामने अब नवसाक्षर जो आते थे, वे सब गांव-देहात के लोग तो नहीं थे। कुछ उनमें फैक्टरियों में काम करने वाले अच्छे कारीगर थे, सिर्फ वे फुरसत के समय में अपना भाषा-ज्ञान बढ़ाने आते थे। उन्हें मेरा पढ़ाने का ढंग बहुत अच्छा लगता था और कु० लीलावती की ढोंगी 'भारतीय संस्कृति' के नाम पर दकियानूसी बातों पर आग्रह बहुत बुरा लगता था हम नये-पुराने विचारों के दो परस्पर विरोधी धारदार पट्टियों वाली कैंची में मैं अनावश्यक रूप से आ गई। बात चल पड़ी थी रूपकुंवर के सती हो जाने पर।

दैनिक समाचार पत्र में यों समाचार आया, जो मैंने पढ़कर सुनाया :

देवराला, सितम्बर 16 (प्रे-ट्र-हं)

अट्ठारह बरस की रूपकुंवर सितम्बर4 को राजस्थान के सीकर जिले के इस गांव में अपने पति की चिता पर बैठकर 'सती' हो गई थी। उसकी 'चूनरी' का समारोह देखने लाखों लोग जुट आये।

"सरकारी आदेश थे कि इस समारोह में भाग लेने वाले लोगों को रोका जाये। पर लोग नहीं माने। बसों में लदकर हजारों लोग जुट गए। कुछ मैटाडोर कारों में, कुछ ट्रैक्टर ट्रोलियों, कुछ ऊंट-गाड़ियों में बैठकर वहां आए थे। वहां उस क्षेत्र में एक भी पुलिस का आदमी नहीं दिखाई देता था। गांव के आसपास कोई पुलिस चौकी भी नहीं थी।

"पत्रकारों और फोटोग्राफरों को स्वयंसेवकों ने रोका कि वे 'सती स्थल' के पास न जाए। रूपकुंवर के परिवार वालों से बातचीत करने से भी उन्हें मना किया गया।

"एक भाव भीने समारोह में जयपुर से रूपकुंवर के परिवार वाले 'चूनरी' ले आए, उस चिता-स्थली पर जहां उस युवती ने अपने को चिता पर जला लिया था मन्त्रध्वनि के बीच में, "सती माता की जय" के नारों में चूनरी चढ़ाई गई।

"गये तेरह दिनों से तलवारें हाथ में लिए राजपूत युवकों ने उस सती-स्थल की रक्षा की थी।

"गाँव के चौदह किलोमीटर दूर अजितगढ़ में सवा चार बजे से जिला प्रशासन ने वाहनों के आने पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। पर बूढ़े, बच्चे, बीमार, विकलांग सब पैदल वहां पहुंच गये।

"सती स्थल से एक किलोमीटर दूर रूपकुंवर की 'हथेली' एक तीर्थ स्थल की तरह बन गया था। सब लोग आकर अपना प्रणाम और श्रद्धा के सुमन चढ़ाने के लिए आगे बढ़कर होड़ लगा रहे थे। सब उस पवित्र स्थान का दर्शन करना चाहते थे—एक झलक मात्र। वहीं पर पूरा दुल्हन का साज-शृंगार कर यह

लड़की सती हो गई थी।"

यह खबर जब मैंने पढ़कर सुनाई तो साक्षरता की कक्षा में आये लोगों में बड़ा मतभेद हो गया। कुछ कहने लगे—"हमारे देश में सती-सावित्री की पुरानी परम्परा है। यह आत्म-बलिदान इस छोटी सी लड़की ने किया। यह चमत्कार हो गया कलियुग में। इससे सिद्ध होता है कि अब भी सतयुग अपने देश में है।"

और उसी मे टीप जोड़ते हुए कुछ और बोले—"सरकार को हमारे धर्म में खलल डालने की क्या जरूरत है? वह मुस्लिम या ईसाई या और किसी धर्म वाले के काम मे कहीं पुलिस लगाती है क्या? हिन्दुओं को हमारी सरकार ने भेड़-बकरी समझ लिया है।"

तो उन्ही में से एक जरा तेज तर्रार महिला थी। वह बोली—"क्या बात करते हो आप लोग। राजा राममोहन राय के प्रयत्नों से लार्ड बेंटिक ने सती प्रथा को बंद कराया उसे एक सदी से ऊपर हो गया। हमारे कानून मे कहीं भी सती के लिए कोई संदर्भ नही है। धर्म के नाम पर यह एक तरह की नाबालिग लड़की की हत्या है। कानून के पंजे से बचने के लिए चिता को अग्नि एक छोटे से बालक से दिलवाया। यह स्त्री की स्वतन्त्रता के अधिकार का हनन है। यह बर्बर प्रथा है।"

अब वहा पर पूरा वाद-विवाद का अखाड़ा बन गया।

मेरी पूरी सहानुभूति इस स्त्री के साथ थी जो सती प्रथा का मुखर विरोध कर रही थी। पर हमारे भीतर, विशेषतः निरक्षर लोगों में कितनी गहरी अंध-श्रद्धा जमकर बैठी है, इसका यह एक सबूत था। मैं आखिर चुप हो गई।

इसी समय हमारी संचालिका कुमारी लीलावती वहां पधार गईं। वैसे ही वे मुझसे नाराज थीं कि मैं इतनी लोकप्रिय क्यों हो रही हूं, क्यों मैं इन नये साक्षरों को गाने और कविताए सुनाती हू—तो वह एकदम मुझपर ही उबल पड़ी—

"यह सब क्या हो रहा है? बजाय इन लोगो को अ-आ-इ-ई पढ़ाकर इनके काम की सरल भाषायें पुस्तक पढ़ाने के आप उनमे राजनैतिक उत्तेजना फैला रही है। असंतोष भड़का रही हैं। मैं आपको एक दिन भी अब इस साक्षरता के कार्य में रहने नही दूगी।"

उस विभाग से भी मैं 'शटल-कॉक' की तरह स्थानातरित कर दी गई। अब सबसे कठिन काम था गाव-गांव मे जाना और शिक्षितो की बेरोजगारी दूर करने का। उन्हें बैंकों से कर्ज दिलाकर छोटे-छोटे उद्योग लगाने मे, उन्हें स्वावलबी बनाने में उनकी सहायता करने का।

अव्वल तो शहर से गाव तक जाने की यातायात सुविधाए बहुत ही कम थी। जो बसें थीं उनका समय भी असुविधाजनक था। रात को देर से एक सुनसान गांव मे मैं अकेली जाकर क्या करती? सो गाव पंचायतों के सरपंच और उनके समाज

कल्याण विभाग की सहायता ली गई।

कई तरह की शंकाओं से गांवों के लोग ग्रस्त थे। सरकारी प्रचार पर उन्हें ज़रा भी विश्वास नहीं था। उनका यह मानना था कि जितनी भी राशियां आवंटित की जाती हैं, आकाशवाणी और दूरदर्शन पर सुनाई जाती हैं—वे सब झूठी हैं। इसलिए इन राशियों का बहुत कम हिस्सा उन लोगों तक पहुंच पाता है, जिनके नाम से वह होता है। बीच के बिचौलिये कमीशन खा जाते हैं। सचमुच समाज सुधार या ग्रामीण विकास के बदले बहुत कुछ राशि बीच में प्रशासन में ही खर्च हो जाती है।

उनकी कुछ बातें सही थीं, अपनी जगह पर। पर सारे काम को ही इस तरह संदेह से देखकर चलना पूर्वग्रह था। मैंने इन सब बातों को कम करने के इरादे से कुछ युवकों को साथ लेकर मैं निकट की शहर की बैंक की शाखा में पहुंची।

बैंक का मैनेजर बेहद सरकारी कर्मचारी की तरह ठंडा, असहयोगपूर्ण और अनावश्यक मीनमेख लगाने वाला था। उसने तो सबसे पहले मुझ पर ही आक्षेप लगाना शुरू किये—"आपको क्या पड़ी है जी, इन नौजवानों की मदद करने की? सरकार से जो बनता है, वह कर ही रही है। आपको बीच में यह फोकट फौजदारी करने को किसने कहा है?"

मैंने हमारी दान-अनुदान पर चलने वाली संस्था का नाम लिया। बड़े-बड़े दाताओं के नाम लिए। कहा 'ट्रस्ट' है।

"अजी, ऐसे हमने बहुत से ट्रस्ट देख लिए। महात्मा गांधी और जवाहर लाल नेहरू और इंदिरा गांधी के नाम पर 'ट्रस्ट' बना देते हैं। फिर उनमें क्या हो रहा है? करप्शन (भ्रष्टाचार) के कारण कमीशन (आयोग) लगे हैं जांच के लिए। लोग बड़े होशियार हो गए हैं, वे कानून के पंजे से बचने के लिए तरह-तरह के चोर रास्ते निकाल लेते हैं।"

"पर हम तो बाकायदा सरकार द्वारा पंजीकृत, स्वायत्त पर सरकार द्वारा मुहरबंद पुरानी संस्था हैं।"

"छोड़ो भी, ये बड़े-बड़े त्यागी और दानवीर पैसा कैसे देते हैं, क्यों देते हैं—यह सब रहस्य हम बैंक वालों को मालूम हैं। यह सब राजनैतिक चालें हैं।"

मैंने उन्हें आश्वस्त किया कि मेरा किसी भी राजनैतिक पक्ष से कोई संबंध नहीं है। मैं शुद्ध समाजसेविका मात्र हूं। मुझे यह सब बातें व्यर्थ कही जा रही हैं।

फिर भी वे नहीं माने। उन्होंने पचासों उप प्रश्न उठा दिये।

—इसकी क्या गारंटी है कि ये बेरोजगार नवयुवक सचमुच बेरोजगार हैं। इसका प्रमाण पत्र कहां है?

—जब तक कोई एम० एल० ए० या फर्स्टक्लास 'ए' ग्रेड का अफसर या

मजिस्ट्रेट प्रमाणित न करें हम कसे मानें कि यह नवयुवक इसी गाव का है।

--फिर यह जो काम करने जा रहा है। इसके बारे में इसका अनुभव क्या है।

यह कोई शारीरिक काम नही है कि स्कूटर लेने के लिए किश्तो पर पैसा दिया। धीरे-धीरे वह कमाकर चुका देगा।

—यह पैसा लेकर भाग नही जायेगा, इसका आप प्रतिभू (जमानत) देते हो?

—यह रोजगार तो ठीक है। पर इसके लिए कच्चा माल बार-बार मिलता रहेगा, अतः कौन कह सकता है?

—अजी, इतना सूखा पड़ा है। पानी ही नही है तो पनबिजली क्या चलेगी? पानी ही नही है तो खेती क्या होगी? पानी ही नहीं है तो चारा भी नही है—चारा नही तो जानवर क्या खायेंगे? दूध कहां से आयेगा? दूध नही होगा—तो 'डेयरी' का धधा क्या करेंगे?

- -अरे भाई, माचिस-वाचिस बनाने का, आतिशबाजी के उत्पादन का काम भूल जाइये। अब सरकार ने सब तरह के विस्फोटक पदार्थों पर रोक लगा रखी है।

—गाव में और छापाखाना? वहा कौन सा काम मिलने वाला है, 'जोब' का। जल्दी ही भट्ठा बैठ जायेगा?

ऐसे पचासो कल्पित और अकल्पित आक्षेप यह बैंक मैनेजर साहब खड़े कर देते।

तो हमने सोचा दूसरी बैंक को 'टैप' करें। तो उसके मैनेजर और रंगीन तबीयत निकले। मुझे अकेली, अनब्याही, लड़की को देखकर बोले—"आप शाम को क्या कर रही हैं? फलां रेस्टरा मे आ जाइयेगा। वही बात करेंगे।"

या, "आज रात हमारे क्लब मे पार्टी है। उसमे जरूर आइये। सारा मामला जल्दी से तै हो जायेगा। वहा हमारे चीफ एकाउटेंट भी आ जायेंगे।"

या, "इस 'डील' मे देवीजी आपको तो नामवरी मिलेगी। हमे क्या मिलेगा?"

बेशर्मी से लोग सार्वजनिक कार्यों मे भी अपने स्वार्थांश की खुले आम माग कर रहे थे। धीरे-धीरे नौजवानों का ध्यान भी इस तरह की बाधाओ के कारण स्वावलंबन से हटने लगा।

एक-दो साल यहा रहकर भी मैं पूरी तरह निराश हो गई कि इतने गाव की धूल छानने के बाद भी, कुछ हासिल नहीं हो रहा था। मैंने स्वयं संस्थावालों से कहा कि आप मुझे और किसी काम मे लगा दीजिए।

और अंत मे मैं इस 'औपध वित्तीय विभाग' में आ गई। यहां तुलना मे काम

कम था, और फुरसत में अपना लिखना-पढ़ना काफी कर रही थी। कि यहां आधि, व्याधि, उपाधि—सब तरह के रोगों से रोज का सवक पढ़ते-पढ़ते, मैं स्वयं रोगिणी हो गई।

पहले तो मुझे लगा कि मुझे साफ दिखाई नहीं दे रहा है। पढ़ने में कष्ट हो रहा है। सो चश्मे का नम्बर वदल गया। परीक्षा करवाई। पर उस अंध शाला में रहते हुए मैं जान गई थी कि सव आंखों के डाक्टर अच्छे, सदभाव वाले और परोपकारी होते ही हैं। यह वात सच नहीं। रोगियों को डरा-धमका कर और पैसे वसूल करने लगते हैं।

इस लिए मैं अच्छे से अच्छे नेत्र विशारद के पास गई। उन्होंने सव तरह मेरी परीक्षा की। और कहा कि "कोई रोग नहीं है। यह सव मानसिक है। आप रात का पढ़ना कम करें, वस।"

पर मैं अकेली थी। और पुस्तकें ही मेरी परम मित्र थीं।

मैंने मैत्रलिक का अंधों के वारे में नाटक पढ़ा। मैंने लियो तोलस्तोय का 'पाप में प्रकाश' नाटक पढ़ा। मैंने आल्डुस हकस्ले की आंखों की ज्योति कम होने लगी तो कैसे उन्होंने 'ड्रग्ज' लेने शुरू किये, वह भी पढ़ा।

पर मेरे मन को संतोष नहीं हो रहा था।

एक दिन मैंने एक कहानी पढ़ी। किसी विदेशी लेखक की लिखी हुई थी। एक गहरी नदी पर ऊंचा पुल था। पुल की दोनों ओर ऊपर पदातियों के लिए पद-पथ थे। उनपर एक अंधा हैट फैलाये भीख मांगता खड़ा था।

दिन भर भिक्षा नहीं मिली थी। और वह बहुत भूखा था।

इतने में एक आदमी आया। उसने एक दो, कई सिक्के अंधे भिखारी की हैट में डालने शुरू किये। हैट भर गई, इतने सिक्के और नोट उसमें जमा हो गये। अंधे ने दुआ दी—"अव भी दुनिया में कितने अच्छे-अच्छे दानी लोग शेष हैं। पता नहीं क्यों ऐसी दुनिया में लोग एक दूसरे का खून करते हैं। आत्महत्या करते है। अभी भी दुनियां में जीने के लिए वहुत आशा है। मेरे जैसे अंधे के जीवन में भी प्रकाश लाने वाले देवदूत की तरह अच्छे इनसान हैं। वावा, तेरा भला हो…"

पर वह भला आदमी, जिसने उसकी हैट सिक्के और नोटों से भर दी थी, वहां रुका नहीं, जल्दी-जल्दी डग उठाकर चला गया। उसने अंधे की दुआ सुनी भी या नहीं, पता नहीं।

शाम की सुनसान वेला थी। और ज्यादह लोग नहीं चल-फिर रहे थे।

थोड़ी देर में जोरों से छपाक की आवाज हुई। कोई भारी चीज पुल पर से पानी में जैसे फेंक दी गई हो।

दो चार आदमी उधर से गुजर रहे थे—कह रहे थे—"ओह एक अच्छे कपड़े पहने भले आदमी ने आत्महत्या कर ली!"

अंधा बुदबुदा रहा था—"इतने त्यागी, दानी लोग होते हुए भी, लोग रोज़गारी से, गरीबी-लाचारी से आत्म-हत्या क्यों करते हैं ?"

बाद में पता चला कि जिसने आत्म हत्या की थी, वह वही अज्ञात दानी था, जिसने मरने से पहले अपनी सारी संपत्ति उस अंधे भिखारी की हैट में उंडेल दी थी।

कैसी विडंबना है—अंधा हुआ कि अंधा देख नहीं पाया !

—और अब वह कहानी मैं सुनाने जा रही हूं, जब मैं एक दिन सहसा दृष्टि हीन हो गई।

जब वह देख नही सकती थी

चंडीगढ़, 6 मई,

···आतंकवादियों का यह गिरोह एक पूरे परिवार को मौत की नींद सुलाने के बाद पास ही निरंकारी भवन गया। आतंकवादियों ने इस भवन के बाहर सो रहे दो लोगों की भी हत्या कर दी। मरने वालों में अंधा व्यक्ति था।···

6

पहले तो मेरी समझ में ही नहीं आया कि यह सब क्या हो गया ? क्यों हो गया ? चारों ओर अंधेरा-ही-अंधेरा।

कोई दुर्घटना नही हुई थी। मस्तिष्क पर कोई आघात नही घटित हुआ था। ऐसा क्या हुआ कि एकदम कल तक जो दिखाई देता था, आज सवेरे उठी तो गायब था। कुछ भी दिखाई नही दे रहा था। एकदम एक दीवार-सी मेरे और मेरी दुनिया के बीच खडी हो गई। न सवेरे की किरणें, न खिडकी से दिखाई देने वाले वृक्ष या हरियाली, न सडक पर जाने वालों की अनत शक्लें, न मेरे पास की घड़ी, न किताब का अक्षर, न किसी का आया हुआ कोई पत्र, न परिचित न अंजनबी किसी का चेहरा—कुछ भी नही दिखाई दे रहा था। यह सब क्या हो गया ? कही कोई सुराग या कारण मेरे देखने में दूर-दूर तक नही मिल रहा था।

मेरे मा, बाप दोनों ओर के रिश्तेदारों मे कोई भी तीन पीढियों तक दृष्टि-हीन नहीं था, न मेरे निकट के सम्बन्धी। मेरी अन्धता का कोई जैव कारण नही नजर आ रहा था।

पर अब यह एक सत्य है। और इसी के साथ जीना पड़ेगा। इस तरह से अंधेरे से समझौता करने की आदत न थी, न मन:स्थिति।

अब हर काम मे दूसरे पर निर्भर रहना पड़ेगा। यह पहली अड़चन थी, मुझ जैसी अकेली रहने की आदी स्त्री के लिए।

एक इंद्रिय के अभाव मे दूसरी इद्रिया कहां तक सहायक या सपूर्ति करने वाली होती हैं ? क्या आख का काम कान से, स्पर्श से, घ्राण और जिह्वा से चल सकता है ? नही—शायद किसी भी एक अंग का काम दूसरे अग से हो नही सकता। *सब अंग एक-दूसरे से अलग हैं, और फिर भी वे अलग नहो हैं। एक के बिना दूसरे* का काम चलता नही, और फिर भी यह कहो कि और सब मिलकर किसी भी एक

का अभाव पूरा कर सकते हैं, तो वह भी सच नहीं।

तो पहली बात तो यह हुई कि अब मुझे अपने सहारे के लिए किसी सहेली को अपने पास रखना ही पड़ा।

नौकरी तो छूट ही गई। वैसे मेरी आर्थिक स्थिति इतनी ख़राब नहीं थी। पर बैंक के चैक पर मैं दस्तखत नहीं कर सकती थी। इसके लिए घर में जो भी सोना-चांदी या मूल्यवान आभूषण थे—गिरवी रखकर पैसे जुटाने की व्यवस्था की।

अब मेरी यह सहेली, जिसका नाम मैंने इस कहानी के लिए दृष्टि रख लिया है, और जिसे मैं 'दिशू' नाम से पुकारती थी, यही मेरी सहारा थी। वही मेरी सेक्रेटरी, मेरी संगिनी, मेरी बावर्चिन, मेरी मालकिन, मेरी लाठी थी।

शुरू-शुरू में बड़ी दिक्कत होती थी। धीरे-धीरे घर के घर में, कमरे से बाथ-रूम जाने की अभ्यस्त हो गई। रसोईघर तक जाकर अपना पानी पीने लगी। घंटी सुनने पर टेलिफोन उठाने लगी या दरवाजा खोलने की आदी हो गई। मैं कानों से देखने की आदत डालने लगी।

जब आंखें होती हैं तो हम छोटी-छोटी आवाज़ों की ओर ध्यान ही नहीं देते। अब मेरा साथी था यह छोटा-सा ट्रांजिस्टर, जो मुझे गाने सुनाता। वही मेरा अखबार था। वही मेरा टिप्पणीकार। वही ज्ञान-विज्ञान देने वाला। वही मेरा मंत्र-दृष्टा था। वही अलार्म-क्लाक। वही मेरा कैलेंडर। वही मेरा रोज़नामचा।

ज़रा-सा खटका होता तो मुझे पता चलता कि खिड़की से बिल्ली आ गयी है।

या, गली से कौन गुज़र रहा है। शायद दूध वाला आ गया है। ज़ीने पर उसी के पैरों की आवाज़ है।

या, डाकिया है। पर चिट्ठियां पढ़वाने के लिए शाम तक जब दिशू काम से न लौटकर आयेगी, राह देखनी पड़ेगी मुझे।

या, यह पड़ोसिन मंजुली की घंटी है। वह भी अकेली है और खाली वक्त काटने आ बैठती है। उससे सारे मोहल्ले की, शहर की, प्रकारान्तर से देश की खबरें मिल जाती हैं। उसे बोलने का शौक है। और मैं चुपचाप सुनती रहती हूं।

मंजुली लिखती भी है, और मुझे अपनी कविताएँ, कहानियां, निबंध सुनाती रहती है। यह भी एक अतिरिक्त मनोरंजन है। मेरी रंगहीन दुनिया में उसकी रचना एक अभाव की पूर्ति तो करती ही है। उसने कई रंगों पर कविताएं लिख डाली हैं, काले रंग को छोड़कर। मैंने उससे पूछा—'ऐसा क्यों?'

वह बोली—'मैं अंधेरे से डरती हूं।'

मैंने हंसकर कहा—फिर मेरा क्या होगा?

मंजुली ने प्रश्न टाला—तेरी बात दूसरी है। हमें तो रोज़ काली चीज़ों से

काम पड़ता है। यह तो सूरज के प्रकाश जैसी साफ़ बात है कि देश में काला पैसा काले हृदय के लोगों के पास है, जो अपनी काली करतूतों से बाज नहीं आते। देश का भविष्य यों चितकबरा होता जाता है। क्या हमारा ज्ञान-विज्ञान, तथाकथित दर्शन हमें एक धूसरपन की ओर, यानी अस्पष्टता और मिश्रित स्थिति की ओर नहीं ले जाता।

मैंने कहा—मंजुली, यह सब गंभीर बातें छोड़। मुझे कविता सुना।

मंजुली ने कहा—लो आज तुम्हें एक कविता सुनाती हूं नीले रंग पर :

नील व्योम का
नीले जल का
नीली आंखें
नीलकमल का
दूर-दूर तक
पर्वतमाला
किसने नीला
परदा डाला
पर यह शुद्ध
अकेला नीला
कहीं नहीं है
वह सपनीला
देखो तो यथार्थ में इसकी कई छटाएं
एक नील, जामुनी कालिमामयी घटाएं
एक नील जो समुद्र लहरों भरा लुटाये
वही आक्षितिज मरकत जैसा ज्वार उठाये
कितने-कितने रंग यहां पर
और-और रंगों से मिलकर
कभी आसमानी या नीलम
कभी तारिका करती चमचम
यह तो प्रकृति की रंगावलि
सांप और विष अथवा तितली
पर मनुष्य खेतिहर निलहे
अंगरिखाए नीली-नीली
चाबुक मारे उभरे नील
नील-भील पर नौका नीली
नीले नभ में विमान नीले

'नील' नदी का नाम रख दिया
नीलशारदा, नीलाम्बरी व
नाटय 'नील दर्पण' भी लिख दिया

मैंने कविता सुनी और मंजुली की प्रशंसा की—तुमने तो दुनिया जहान की जितनी नीली चीजें हैं उनकी पूरी सूची बना डाली। क्या ये सब गिना देने से कविता बन जाती है? तुम्हारे मन के भाव इसमें कहां हैं?

मंजुली ने कहा—जब हम कोई चीज चुनते हैं, या अनेक नामों में से एक को किसी को उठाते हैं तो उसमें हमारे मन का भाव नहीं उभरता?

मैंने—सो तो है ही। पर तुम कविता में अपने आपको छिपाती हो?

मंजुली—क्या कविता या लिखना हमेशा अपने आपको उघारना है?

मैं सोचती रह गई। आज जब मैं कुछ भी देख नहीं पाती। सब चीजें गंध, स्पर्श, स्वर शब्द से समझने का यत्न करती हूं तो क्या मैं सब चीजें मुझसे अपने आपको छिपा रही हैं। या मैं ही उनके लेखे छिपी हुई हूं?

यह आंख-मिचौनी सृष्टि के आरंभ से चली आ रही है। आदमी अपने आपको इस विश्व से छिपाना चाहता है। विश्व मनुष्य के सामने पूरी तरह व्यक्त नहीं हो पाता।

और व्यक्ति और विश्व को बनाने वाला—वह तीसरी सत्ता तो सबसे ही छिपी हुई है। और दूसरी तरह से कहें तो वह सर्वान्तर व्यापिनी है। क्या मनुष्य के सारे भाव और व्यापार इसी तरह खुलकर छिपे और छिपकर खुले नहीं रह जाते हैं?

इस अधेड़बुन में मैं थी कि एक और समस्या मेरे सामने आ गई। मैंने सोचा कि अपना दुख भुलाने के लिए मैं अपने पुराने संगीत-प्रेम को फिर से जगा दूं। न केवल मैंने कई अच्छे रागों के और विख्यात गायकों के रेकार्ड जमा किये, और वे सुनने लगी, पर स्वयं संगीत सीखने का फिर से अभ्यास शुरू किया। एक बहुत अच्छे संगीत-अध्यापक भी रखे।

पर वे अजीब, लहरी स्वभाव के आदमी थे। कभी जम जाते तो दो-दो घंटों तक सिखाते। और कभी एक-दो हफ्ते तक आते ही नहीं थे। एक दिन संगीत के अलावा उनके जीवन की मैंने पूछताछ की। पहले तो वे कुछ बताने को ही तैयार नहीं थे। फिर एक दिन बच्चों जैसे फूट-फूटकर रोने लगे। मैंने कारण पूछा। उन्होंने अपने जीवन के बारे में जो बताया, वह अपने आप में एक लंबी कहानी थी।

एक मुस्लिम उस्ताद से गाना सीखने के लिए शास्त्रीजी ने घर छोड़ा। काफी कठिन साधना वर्षों तक करते रहे। उन दिनों एक गंदे से सस्ते घर में लखनऊ में रहना हुआ। उस्ताद सब तरह के काम करवाते। हुक्का भरवाना तो मामूली बात

थी। पान-शराब मंगवाना भी मंजूर था। पर असली समस्या तब पैदा हुई जब उस्ताद के यहां एक नाज़नीन अपनी वादी और तानपूरा लेकर रोज पहुंचने लगी। उसका नाम था शीरी। उस्ताद उसे प्यार में पुकारते थे 'शिरीन'। वह अपूर्व सुन्दरी थी, और गाने-नाचनेवालियों की दुनिया से आती थी। उसके अदबो-आदाब, और बोलचाल के ढंग शाइस्तगी और तहज़ीबदारी से भरे हुए थे।

अब कभी-कभी उस्ताद ने शास्त्री को उसे उसके मुहल्ले तक पहुंचा आने के लिए कहा। दोनों की आपस में दिलचस्पी बढ़ने लगी। शिरीन का गला बहुत मीठा था। और उसकी मौसी नहीं चाहती थी कि वह मौसी की लड़कियों में उलझकर अपना काम-धंधा छोड़ दे। मौसी उससे गजलें गवाती, और चाहती थी कि वह मेहमाननवाज़ी करे, शौकीनों की फरमाइशों पर मुजरे करे और फनकारी की दुनिया में खो न जाए।

शिरीन ने अपना दिल खोला और शास्त्री से कहा—मैं यह मौसी वाला धंधा नहीं करना चाहती। मैं गाना गाकर इन पिए हुए धुत्त, संगीत का 'सा' भी न जानने वाले अहम् को और गवारों के इशारों पर अपनी सुर और तान की कसीदाकारी तार-तार करना नहीं चाहती। मैंने उस्ताद से कई बार कहा कि मेरी मदद करो। तो वे बोले— तेरी मदद तो अल्लाह भी नहीं कर सकता। क्या मुझे सारी ज़िंदगी इसी कीचड़ में पड़े रहना है? इसी नरक में डूबना है?

शास्त्री ने कहा—कीचड़ में से कमल उगता है। ऊपर उठता है। हीरा खदान में गहरे अंधेरे में ही नहीं पड़ा रहता।

शिरीन बोली—पर उसे चुनकर लाने वाला और मंदिर में चढ़ाने वाला, या उसे तराशकर नगीने की तरह कुन्द में जड़ाने वाला कोई और होता है।

शास्त्री ने मन ही मन में कहा कि वह माली मैं होऊंगा। वह सुनार मैं बनूंगा।

दोनों ने प्लान बनाया कि वे यहां से भाग जायेंगे। पर मौसी को इसकी खबर नहीं लगनी चाहिए थी। न उस्ताद को इसकी भनक लगनी चाहिए थी। वरना सब काम बिगड़ जाता।

शास्त्री के पास पैसे नहीं थे, और शिरीन की हिम्मत नहीं हो पा रही थी। इसी पशोपेश में कई महीने बीत गये।

आखिर एक दिन वह आया जब शिरीन एक पोटली में अपने गहने और कपड़े वगैरह शास्त्री को देकर चुपचाप उस मुहल्ले से दिन दहाड़े निकल आई। मौसी कहीं बाहर गई थी। और शिरीन ने तै किया कि वह लौटकर उस दहलीज़ पर पैर नहीं रखेगी।

शास्त्री ने भी हुलिया बदल ली। बेतरतीब बढ़े बाल और दाढ़ी सब हटा दिये। धोती कुरता वाला गंवई ड्रेस छोड़कर उसने अंग्रेज़ी ढंग का सूट-बूट पहन

लिया और वस से वे लखनऊ से सीधे ऐसी दिशायें चले गए जहां उन्हें कोई पहचान नहीं पा सकता था। वे हिमाचल प्रदेश में शिमला के पास एक गांव में रहने लगे। दोनों ने अपने नाम बदल डाले। शास्त्री अब वैदराज बलदेव बन गया। और शिरीन ने हिन्दू नाम गंगा। भाषा भी बदलने का यत्न किया। खालिस उर्दू बोलना शिरीन ने छोड़ दिया।

यह नई जिंदगी विताते हुए, शुरू में जो कुछ रुपये थे, वे खर्च हो गए। शास्त्री को थोड़ी बहुत वैद्यकी का ज्ञान था, उसके सहारे उस छोटी सी जगह में उनका नाम बढ़ गया। दूर-दराज के बीमार भी वहां आने लगे।

ऐसे में संयोग से एक दिन जब शास्त्री घर में नहीं थे, तो एक लखनौआ अन्दाज में बोलने वाले कपड़े के व्यापारी वहां आ गये। उन्हें यह बताने के लिए कि वैदराज घर में नहीं हैं, गंगा बाहर आई। एक मिनिट में उसने पहचान लिया कि हो न हो यह तो वही सेठ सालिगराम है जो मौसी के यहां गाना सुनने आता था। एक मिनिट में उसने त्योरी बदलकर कहा—वैदराज बाहर गांव गये हैं।

—कब तक आयेंगे ?

—दो दिन बाद

पर सेठ टला नहीं। सवाल पूछ बैठा—आपको कहीं पहले देखा है ?

—मैंने तो आपको आज ही देखा है। मैं मरीजों से ज्यादह बातें नहीं किया करती।

वह कहकर भीतर चली तो गई पर उसके मन में खटका हुआ। और बलदेव उर्फ शास्त्री से उसने सारी बात बता दी। दोनों सावधान हो गए। दो दिन बाद वह सेठ फिर वहीं आ गया। तब गंगा कहीं बाहर चली गयी थी। पर बात वहां तक नहीं रुकी। कहीं यह आदमी लखनऊ में वापिस जाकर मौसी से सब कुछ कह दे तो ?

और बलदेव को भी लगा कि इस नई जिंदगी में जिस चीज के लिए जिंदगी बिता दी, वह संगीत तो कहीं गायब हो गया। अब क्या होगा ?

सो एक दिन दोनों हिमाचल प्रदेश से फिर गायब हो गये।

किसी-किसी के जीवन में मुसीबत पर मुसीबत पहाड़ की तरह दुर्गम रास्ते पैदा करती है। बेचारे संगीत अध्यापक शास्त्री का यही हुआ। वह वहां से भागा तो दूर मालवे में चला गया, इन्दौर में। और वहां इन दोनों ने नई जिंदगी शुरू की। छोटा-सा संगीत कला विद्यालय चलाया। छोटे-छोटे बच्चे-बच्चियां पढ़ने आते दोनों मिलकर उन्हें संगीत और नृत्य सिखाते। पर आय कम थी। और जीवन बड़े कष्ट से चल रहा था, कि एक दिन शिरीन बहुत बीमार पड़ गयी।

शास्त्री ने बहुत इलाज किए। पर कुछ नहीं हो सका। वह दुर्बल होती गई। इसी में उसे बच्चा होने वाला था। प्रथम प्रसूति में ही वह और उसकी बच्ची

दोनों नही रहे।

शास्त्री ने प्रेम के लिए इतना सारा त्याग किया! और वह प्रेम का आधार ही नहीं रहा। जैसे वह देखते-देखते सहमा अधा हो गया।

यही वजह थी कि उसकी आवाज में बड़ा दर्द था। गहरा सोच! पर अब नौजवान शास्त्री अकेला था। और वह नशा करने लगा। गम गलत करने के लिए शराब पीना उसने शुरू किया। धीरे-धीरे शराब ही उसे पीने लगी।

मैं सच से भाप लेती थी कि अब शास्त्री पढ़ाने नहीं, अपने नशे के लिए पैसे मागने आये हैं। शुरू-शुरू में मेरी उनसे सहानुभूति थी। पर बाद में उनकी उपस्थिति असह्य हो गई। उनके स्पर्श में एक तरह का उन्माद था वहशीपन था। मुझे मजबूर होकर उनकी ट्यूशन छोड़ देनी पड़ी।

मैं अब क्या करूं, यह सोचकर मैंने 'ब्रेल' लिपि सीखी और उसमें छपी किताबें और पत्रिकाएं मैं मगाने लगी। ज्ञान तो बढ़ रहा था। पर उस कोरे ज्ञान का मैं क्या करूं?

मंजुली उस दिन आई तो कहने लगी—रग मूलतः तीन हैं—नीला, पीला, लाल। उसी में से यह सतरंगी दुनिया बनी। कोई भी एक चीज दूसरे से अन-जुड़ी, अनबंधी, असंपृक्त नहीं है।

मैं भाप गई कि मंजुली आज कोई कविता सुनाने वाली है। मैंने कहा—सुनाओ।

मंजुली—मैंने एक लम्बी कविता लिखी है पीले रंग पर, सुनेगी?

—क्यों नहीं।

—पीतिमा
पीला-सा चाद
जैसे बीमार पीलिया का
फीकी-फीकी सी पीली राका
जब यह सृष्टि बनी
हिरण्यगर्भ पीला था
सूर्य की किरणें पीली थीं
पीले थे हिमशिखर
पीला था वह निर्झर
किरणों में नहाता सा
बांच रहे बौद्ध भिक्षु
पीली चीवर पहने
पीले तालपत्रों पर
पाण्डुलिपि पाली में

पीले काठ-पात्रों में
पीला भिक्षान्न खा
आये फिर वैष्णव
पीतांवर धारी के
केसर से चर्चित
औ चंदन से चित्रित
कपोल माथे पर
राधा की हल्दी उस चूनर पर
गौर वर्ण कंकण पर,
नकवेसर पुखराज
कटि किंकिणी पीत
क्षुद्र घंटिका के वचणन पर
पीली उस वांसुरी
औ पीली चिड़िया के नाम
कोटि गीत, कोटि ग्रंथ
भागवत रचते, पीलू में गाते
प्रीत को पीत
और प्रीतम को पीतम
यों कहते
पीत पर श्याम रंग
मिलकर उस हरित-द्युति
वृंदावन विहारी के
गोधूलि समय के
पीले अक्षितिज विछे
आलोक रज में ही दंग
लिए पीत चंग
झांझर करताल संग
केसरिया रंग के
क्षत्रियों के पाग
और पद्मिनी की चूनर
और घागरा
पीले मरुथल की
उस सिकता से खेल फाग
केसा-कुसुंभी पी

केसर गढ़ जीतते
वीर शूर केसरी
ऊपर कश्मीर तक
केसर के खेतों तक
लड़ते मर्म, नारंगी निशान
फहराते हुए
'मा, रंग दे वसंती चोला'
गाने वाले सिंह
धीरे-धीरे पीले
हो गये क्षय-ग्रस्त्
पाडुर और रक्त हीन
पीले पत्ते की तरह
झरे, पीली कोठियों में
पीले पड़े कागजों की
फाइलों में पीले उन
फीतों से बंधे हुए
प्रेत-मुख
'यलो प्रेस'
पढ पढ़कर
फास्फारेंट विद्युद्दीप
जगमग और नीचे
सरपट पीली कारें
ले जाती एशिया की
पीली नशीली चीजें
सोने के बिस्कुट
पीली नदी से चल
पीतल की मूर्तियों में
तस्करी से येलोस्टोन'!
यह पीला ज्वर
मानो संक्रामक महामारी
फलों पर नकली रंग
पीलापन बदरंग
नकली स्वर्ण
नकली वर्ण

पीली टिशू सारी
पीला सूट है सफारी
दांत में चमकता सोना
हाथ में पीला मद्य
आंखों के आगे है
सिर्फ सुनहला धुआं
पीले-पीले पत्रहीन
जंगल और निर्जन
पीले नंगे पहाड़
पीले ही पत्थर
पीला सा चांद
जैसे रोगी हो पीलिया का
फीकी फीकी सी पीली राका

कविता पढ़कर मंजुली उदास हो गई।

मैंने सिर्फ इतना ही कहा—रंगों के बारे में कविताएं मुझे सुनाकर क्या होगा ? मेरे लिए सब रंग एक से हैं।'

वह सुनकर और उदास हो गई।

शायद सारी कविता, सारा साहित्य यही प्रयत्न है कि जहां कुछ नहीं है, वहां कुछ रचा जाये। जो पहले नहीं था उसे निर्मित किया जाये। इसी कोशिश में बार-बार, बार-बार आदमी चढ़ता उतरता, फिसलता-बढ़ता, कुछ कर गुज़र जाता है।

मंजुली कविता की कॉपी रखकर चली गई।

7

'दिशू भी मेरी मदद करती थी। पर घर में बराबर योंही बैठे रहना—कुछ न करना अखरता था। मैं जीवन से प्राय: निराश हो गई थी।

जो विदेश से लौटकर आते थे, कहते थे कि वहां दृष्टि वापस मिल जाने का इलाज होता है। मैं डॉक्टर मात्र के नाम से घबड़ाने लगी थी। जितने डॉक्टर,

उतने निदान। जितने निदान उतने इलाज। कहीं कोई अं[illegible]
बात नहीं। ऐसा क्यों होता है?

हर डॉक्टर मेरी आंखों को लेकर 'प्रयोग' करना चाहता [illegible] न होकर जानवर हूं। यह कैसी विडंबना है? आंख जैसी [illegible] कठोर, निर्मम, नीरस और चकित कर देने वाला हजारों [illegible] साहित्य लिखा जा चुका है, और लिखा जा रहा है—शोध हो रहे हैं—चित्र खांच जा रहे हैं—नये-नये परीक्षण यंत्र बन रहे हैं। पर कहीं कोई बात ऐसी है कि अनदेखी रह जाती है। आंखोंवाले अपनी आंख के बारे में क्या-क्या नहीं जानते और फिर जानना और अंधा बनाते जाता है। यह विचित्र विरोधाभास है।

दिशू हर समय तो घर में रह नहीं सकती थी। मैंने अपनी आंखों के बदले अंगुलियों से, स्पर्श से सब काम करना शुरू कर दिया था। ऐसे में एक दिन घंटी बजी। मैंने भीतर से ही पूछा—कौन है?

अगर परिचित आवाज आती तो मैं दरवाजा खोलती। नहीं तो उत्तर ही नहीं देती थी। पर बाहर की आवाज काफी दयनीय थी। शायद दो आदमी थे। एक बोला—"अन्धशाला का चन्दा!

मैंने दरवाजा खोला।

उन्होंने मुझे देखा और वापिस जाने ही वाले थे कि उनमें से एक सहानुभूति पूर्वक बोला—'ऐसा कबसे हुआ?

'अभी हाल ही में हुआ है'

'तो घर में और कोई नहीं है?'

'नहीं।

'फिर आप हमें चंदा कैसे देंगी?"

'दे दूंगी। हर माह देती थी न?'

'रहने दीजिये। हम बाद में आयेंगे।'

मैंने दरवाजा बंद कर दिया पर आवाज कुछ परिचित [illegible]

चार दिन बाद वही परिचित आवाज बाहर से आई। [illegible] थी। दिशू ने दरवाजा खोला। नाम पूछा। वे बोले [illegible] दर्शन और मनोविज्ञान पढ़ाता हूं। मुझे गृहस्वामिनी ने [illegible]

दिशू ने मुझे बुलाया। और उन्हें भीतर बुलाकर [illegible]

मैंने पूछा—'उस दिन तो आप अंधशाला [illegible] थे। आपकी ही आवाज थी वह।'

'हां, मैं वही था'

'फिर आप आज फिर वही चंदा मांगने [illegible]'

'नहीं'

ठहरिए, दिशू से मैं आपको दान के पैसे दिला दूंगी।'

'नहीं, पैसे नहीं चाहिए। मेरे पास से दान लेने वाले अंधे भी नहीं है, न वह चंदे की रसीद-वही।'

'फिर आप क्यों आये हैं ?'

'मैं आप ही से बातें करने आया हूं'

'कैसी बातें ?'

'मैं अंधों के मनोविज्ञान पर काम करता हूं।'

'मैं मनोरोगी नहीं हूं'

'जिसको मन का रोग होता है वह नहीं जान पाता कि वह मनोरोगी है। ऐसा होता तो सब अपना ही इलाज खुद कर लेते।'

मुझे लगा कि आदमी समझदार है, और शायद मुझे कोई मदद मिले।

वह इत्मीनान से बैठ गये। शायद उन्होंने कुछ कागज निकाले और प्रश्नावली शुरू करने ही वाले थे, कि मैंने पूछा

'आप ठंडा, गरम क्या पियेंगे ? दिशू...'

'नहीं, मैं सिर्फ पानी पिऊंगा।'

फिर वे अपने काम में लग गये। वह कहने लगे—'मेरी स्थापना यह है कि तन के रोग तो अच्छे हो जाते हैं, मन के रोग बहुत गहरे में होते हैं, वे अच्छे नहीं हो पाते। वे भीतर ही भीतर कहीं दबकर रह जाते हैं।"

मैंने कहा—'हो सकता है।'

'परंतु, आपसे प्रश्न पूछने से पहले मैं यों शुरू करता हूं कि हर प्राणी की जैसे दृष्टि की शक्ति अलग-अलग होती है। उसके अंधे होने की संभावनाएं भी अलग-अलग तरह से होती हैं। हर एक की परिस्थिति अलग होती है।'

'ठीक है'

'हर प्राणी को, और खास तौर से मनुष्य का उसके संस्कार, उसके बचपन से, पीछा करते रहते हैं।'

'इसमें कौन सी नई बात हुई ?'

'नहीं, इनमें कुछ ऐसे हैं जो हमारी आंतरिक देखने अनदेखी करने, जान-बूझ कर अंधे बनने से जुड़े होते हैं।

'मैं आपकी बात समझी नहीं'

'मेरा यह मानना है कि मनुष्य के छह शत्रु हैं। और उसके भीतर ही हैं'

'सो कैसे ?'

'काम, क्रोध लोभ, मोह, मद, मत्सर...'

'ये तो शास्त्रों में बताये षड्रिपु हैं'

'मैं मनोवैज्ञानिक हूं और अपनी कई रोग-निदान की जांच में इन्हीं पर आकर

रुक गया हूं। ये सारे विकार आदमी को अंधा करने वाले हैं। पूरा या अधूरा''''

'यह बात मैं पूरी तरह से मान नहीं सकती'

'आपने कामांध, क्रोधांध, मोहांध जैसे शब्द तो सुने होंगे'

'हां, पर वह मनुष्य की मन की प्रवृत्ति के लिये हैं। आदमी सचमुच में अंधा थोड़े ही हो जाता है?'

'मेरा यह मानना है कि मन बहुत बड़ी शक्ति है, जो शरीर को भी प्रेरित, प्रभावित, परिवर्तित करती है।'

'हो सकता है। पर इसका प्रमाण आपके पास है?'

'ठहरिये, मैं अपनी 'केस हिस्टरीज (मनोवैज्ञानिक रोगियों के पूरे इतिहास-विवरण) से छह अलग-अलग लोगों के बारे में बताऊंगा, जिनमें पुरुष भी हैं, स्त्रियां भी हैं। और आप खुद देख लीजिए कि मैं जो कह रहा हूं वह सच है या नहीं।'

मुझे यह बात अच्छी लगी। मैंने पूछा एक-एक केस सुनने में कितनी देर लगेगी? वे बोले 'आधा घंटा'

'अच्छी बात है, मैं फुरसत में हूं। आप एक-एक कहानी सुनाते जाइए। रोज एक के हिसाब से छह घंटे मैं आपको दूंगी। उसके बाद आप मुझसे अपनी प्रश्नावली पूछना।'

वह धर्मकीर्ति भी राजी हो गए। उन्होंने पहले दिन एक कामांध पुरुष की बात बताई। वह जैसे मैंने सुनी कही बता रही हूं। बीच-बीच में सवाल पूछती जाती थी। पर वे बहुत बच-बचकर जवाब देते थे। वे मानते थे कि कहानी को पूरा ज्यों-का-त्यों सुन लेना चाहिये—पहले से निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए। मैं पूछने ही जा रही थी कि यह तो किसी विशेष विकृत आदमी का चित्र होगा?

धर्मकीर्ति ने कहा—'नहीं, यह आदमी आप और हमारे जैसा सर्वसाधारण आदमी है। ऐसी ही स्त्रियां भी होती हैं। पर मैं आपको उनके उदाहरण नहीं सुना रहा हूं। यह नैसर्गिक और स्वाभाविक है। उसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है।'

'अच्छा सुनाइये'

'जिसे रोका या टोका जाये, वही बात करने की प्रवृत्ति हो मनुष्य में बचपन से होती है। भारत में जितने प्रसिद्ध धर्म हैं उन सातों में बचपन से यह शिक्षा दी जाती है कि काम-वासना को दबाना चाहिए; ब्रह्मचर्य ही श्रेष्ठ गुण है।

'ये सात धर्म कौन से आप बता रहे हैं?'

हिंदू सबसे पुराना धर्म है। वेद से मनुस्मृति तक पचासों ऐसे वचन हैं जिनमें कामदेव को जलाने और उनके वश में गए हुए लोगों के भौतिक-नैतिक पतन की अगणित कहानियां हैं। स्त्री-पुरुष का मिलन विवाह संस्कार से नियमित किया जाता रहा। उसमें असंग जो कुछ है, वह पाप माना जाता था।'

'ठीक है।

'फिर उसी हिंदू धर्म में से निकले बौद्ध, जैन, सिख धर्मों में भिक्षु, मुनि, यती, सन्यासी, निरंकारी, निहंग, अविवाहित रहकर धर्म को अपना सब कुछ अर्पण कर देने वाले लोग निकले। वहां विवाह, बंधन से न जुड़ा हुआ, माता-बहन के रिश्ते से न जुड़ा हुआ अन्य सब स्त्री-पुरुष का एकांत समागम संदेह से देखा गया। क्या यह कामांध दृष्टि नहीं थी। उसमें अनेक ऋषियों-मुनियों, महापुरुषों के अप्सराओं के कारण अपने मार्ग से अलग विपक्षगामी होने की कहानियां हैं, 'मार' पर विजय की कहानियां हैं। अच्छे शीलवान पुरुषों पर परकीया के कारण लगे कलंक की कहानियां हैं।

'यह सब मैं जानती हूं। आप इन्हें क्यों दुहरा रहे हैं?'

'इसी मत को और पुष्टि इस्लाम और ईसाई मत और पारसी धर्म के आने पर मिली। शैतान ने हव्वा को दिया हुआ फल ही सब पापों का प्रश्न मूल पाप (ओरीजिनल 'सिन') मान लिया गया। इस्लाम में अल्लाह पुरुष है। पारसी धर्म में स्त्री-पुरुष समानता तो कही गई पर कहीं भी उन्हें मुक्ताचरण की छूट नहीं है।'

'आप अपनी केस-हिस्टरी पर आइये'

'हमारे इस व्यक्ति का नाम 'क' है। हमने अनेक स्त्रियों से विवाद करने के लिए धर्मांतर किये। पहले उसके बचपन की बात बताता हूं। इसकी मां बचपन में मर गई। और कोई सगी बहन नहीं थी। यह तीन भाइयों में मंझला था, और उपेक्षित था। बड़े भाई की शादी हो गई, जब यह 'क' समझदार बना। वय प्राप्त हुआ। तो सेक्स के प्रति कुतूहल बढ़ा। कुसंगत में पड़ गया।'

'आगे क्या हुआ।

'वह एक लड़की से प्रेम करता था। उसे पा न सका। उससे उसे बेहद घृणा हो गई। उसी से नहीं उसके घरवाले, उसके भाई, उसके रिश्तेदार सबसे तिरस्कार करने लगा।'

'क्या उसने अपने अकेलेपन से बचने के लिए कोई मार्ग खोजा?'

'हां, वह लेखक बन गया।'

'क्या लेखन से अकेलापन कम होता है, या बढ़ता है?'

'इस 'क' के मामले में उसकी प्रेमांधता बढ़ती गई। वह हर नई स्त्री या लड़की से मिलता। उससे विवाह का आश्वासन देता। और उसे छोड़ देता। जैसे वह अलग-अलग खाने की जगह जाता या अलग-अलग खाने चखता, उसकी यह लंपटता भी धीरे-धीरे आदत में शामिल हो गई।'

'क्या उसे कोई अच्छे लेखक नहीं मिले? कोई आदर्शवादी या सिद्धांत के पक्के लोग?'

'वह उनसे नफरत करने लगा। वह आर्यसमाजियों को मुस्लिम लीग वालों जैसा मानने लगा। वह गांधीवादियों को ढोंगी कहने लगा। उसने लेख लिखा—गांधीवाद जहरवाद है। यह बात दूसरी है कि दयानंद या गांधी अपनी जगह थे। उनके मानने वाले इस गरीब के लिखने से कम नहीं होते थे।'

'पर वह ऐसा क्यों करता था?'

'उसके जैसे और भी समान-व्यसनी लोग थे। अब उसने उन सब विदेशी, देशी और हिन्दी के लेखकों की जीवनियां जमा करनी शुरू की, जिसमें अनेक स्त्रियों से प्रेम करने के किस्से थे।'

'आश्चर्य है, क्या ऐसे लेखक बहुत थे या हैं?'

'उसने यह खोज जारी रखी। कई लेखक थे जिन्होंने न केवल एक विवाह के बाद विवाहेतर सम्बन्ध रखे। एक साथ अनेक प्रेमिकाएं रखीं। विवाहिता और प्रेमिका को एक-दूसरे से छिपाये रखा। कई लोग ऐसे थे जिनकी प्रेमिकाएं दूसरों की पत्नियां थीं। या यदि वे अध्यापक या प्रोफेसर थे तो उनकी प्रेमिकाएं थीं। या उनके साथ कार्यालयों में कार्य करने वाली स्त्रियां थीं। बहुत कम उनमें थे जो प्रेमिका के लिए पत्नी को छोड़कर निर्भयता-पूर्वक बिना विवाह किये प्रेमिका के साथ रहने लगे।'

'क्या वे सब समान वय, समानधर्मा थे?'

'नहीं ऐसे लेखकों ने बुढ़ापे में युवतियों से शादियां कीं, सम्बन्ध रखे। कुछ उनमें और दुखी हुए। प्रेमिकाएं उन्हें छोड़कर भाग गयीं या उनके साथ वही करने लगीं जो वे उनके साथ करते थे।'

'पर एक घर में रहकर यह सब दोहरी जिंदगी कैसे जी पाते थे?'

'एक तो भारतीय स्त्री बहुत सहनशीला है। कुछ पत्नियों ने यह स्थिति अपने भाग्य के दोष से बताई। कुछ पत्नियों ने यह सोचा कि उन्हें सन्तान नहीं है, इससे पुरुष ऐसा एक से अधिक स्त्रियों से सम्बन्ध रखते हैं।'

'पुरुष में भी तो दोष हो सकता है'

'इसके लिए विवाह से पहले स्त्री और पुरुष दोनों की शारीरिक, मानसिक परीक्षा कराना कानूनन अनिवार्य होना चाहिए।'

'होना तो बहुत कुछ चाहिए। ये लेखक, साहित्यिक, अध्यापक, बौद्धिक, कलाकार आदि जो समाज को उपदेश देते फिरते हैं, उन्हें सबसे पहले अपने भीतर झांकना चाहिए। अपने को बचाकर वे औरों को उपदेश देते फिरते हैं। इसी से उन शब्दों का कोई असर नहीं पड़ता।'

'फिर 'क' का क्या हुआ?'

'कुछ नहीं हुआ। वह चतुर व्यक्ति था। उसने पैसे के बल पर अपने आस-पास चेले-चेलियां जुटा लीं। अपने अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित करवा लिए। सब

'ठीक है।

'फिर उसी हिंदू धर्म में से निकले बौद्ध, जैन, सिख धर्मों में भिक्षु, मुनि, यती, सन्यासी, निरंकारी, निहंग, अविवाहित रहकर धर्म को अपना सब कुछ अर्पण कर देने वाले लोग निकले। वहां विवाह, बंधन से न जुड़ा हुआ, माता-बहन के रिश्ते से न जुड़ा हुआ अन्य सब स्त्री-पुरुष का एकांत समागम संदेह से देखा गया। क्या यह कामांध दृष्टि नहीं थी। उसमें अनेक ऋषियों-मुनियों, महापुरुषों के अप्सराओं के कारण अपने मार्ग से अलग विपक्षगामी होने की कहानियां हैं, 'मार' पर विजय की कहानियां हैं। अच्छे शीलवान पुरुषों पर परकीया के कारण लगे कलंक की कहानियां हैं।

'यह सब मैं जानती हूं। आप इन्हें क्यों दुहरा रहे हैं ?'

'इसी मत को और पुष्टि इस्लाम और ईसाई मत और पारसी धर्म के आने पर मिली। शैतान ने हव्वा को दिया हुआ फल ही सब पापों का प्रश्न मूल पाप (ओरीजिनल 'सिन') मान लिया गया। इस्लाम में अल्लाह पुरुष है। पारसी धर्म में स्त्री-पुरुष समानता तो कही गई पर कहीं भी उन्हें मुक्ताचरण की छूट नहीं है।'

'आप अपनी केस-हिस्टरी पर आइये'

'हमारे इस व्यक्ति का नाम 'क' है। हमने अनेक स्त्रियों से विवाद करने के लिए धर्मांतर किये। पहले उसके बचपन की बात बताता हूं। इसकी मां बचपन में मर गई। और कोई सगी बहन नहीं थी। यह तीन भाइयों में मंझला था, और उपेक्षित था। बड़े भाई की शादी हो गई, जब यह 'क' समझदार बना। वय प्राप्त हुआ। तो सेक्स के प्रति कुतूहल बढ़ा। कुसंगत में पड़ गया।'

'आगे क्या हुआ।

'वह एक लड़की से प्रेम करता था। उसे पा न सका। उससे उसे बेहद घृणा हो गई। उसी से नहीं उसके घरवाले, उसके भाई, उसके रिश्तेदार सबसे तिरस्कार करने लगा।'

'क्या उसने अपने अकेलेपन से बचने के लिए कोई मार्ग खोजा ?'

'हां, वह लेखक बन गया।'

'क्या लेखन से अकेलापन कम होता है, या बढ़ता है ?'

'इस 'क' के मामले में उसकी प्रेमांधता बढ़ती गई। वह हर नई स्त्री या लड़की से मिलता। उससे विवाह का आश्वासन देता। और उसे छोड़ देता। जैसे वह अलग-अलग खाने की जगह जाता या अलग-अलग खाने चखता, उसकी यह लंपटता भी धीरे-धीरे आदत में शामिल हो गई।'

'क्या उसे कोई अच्छे लेखक नहीं मिले ? कोई आदर्शवादी या सिद्धांत के पक्के लोग ?'

'वह उनसे नफरत करने लगा। वह आर्यसमाजियों को मुस्लिम लीग वालों जैसा मानने लगा। वह गांधीवादियों को ढोंगी कहने लगा। उसने लेख लिखा— गांधीवाद जहरवाद है। यह बात दूसरी है कि दयानंद या गांधी अपनी जगह थे। उनके मानने वाले इस गरीब के लिखने से कम नहीं होते थे।'

'पर वह ऐसा क्यों करता था ?'

'उसके जैसे और भी समान-व्यसनी लोग थे। अब उसने उन सब विदेशी, देशी और हिन्दी के लेखकों की जीवनियां जमा करनी शुरू की, जिसमें अनेक स्त्रियों से प्रेम करने के किस्से थे।'

'आश्चर्य है, क्या ऐसे लेखक बहुत थे या हैं ?'

'इसने यह खोज जारी रखी। कई लेखक थे जिन्होंने न केवल एक विवाह के बाद विवाहेतर सम्बन्ध रखे। एक साथ अनेक प्रेमिकाएं रखीं। विवाहिता और प्रेमिका को एक-दूसरे से छिपाये रखा। कई लोग ऐसे थे जिनकी प्रेमिकाएं दूसरों की पत्नियां थीं। या यदि वे अध्यापक या प्रोफेसर थे तो उनकी प्रेमिकाएं थीं। या उनके साथ कार्यालयों में कार्य करने वाली स्त्रियां थीं। बहुत कम उनमें थे जो प्रेमिका के लिए पत्नी को छोड़कर निर्भयता-पूर्वक बिना विवाह किये प्रेमिका के साथ रहने लगे।'

'क्या वे सब समान वय, समानधर्मा थे ?'

'नहीं ऐसे लेखकों ने बुढ़ापे में युवतियों से शादियां की, सम्बन्ध रखे। कुछ उसमें और दुखी हुए। प्रेमिकाएं उन्हें छोड़कर भाग गयीं या उनके साथ वही करने लगीं जो वे उनके साथ करते थे।'

'पर एक घरमें रहकर यह सब दोहरी जिंदगी कैसे जी पाते थे ?'

'एक तो भारतीय स्त्री बहुत सहनशीला है। कुछ पत्नियों ने यह स्थिति अपने भाग्य के दोष से बताई। कुछ पत्नियों ने यह सोचा कि उन्हें सन्तान नहीं है, इससे पुरुष ऐसा एक से अधिक स्त्रियों से सम्बन्ध रखते हैं।'

'पुरुष में भी तो दोष हो सकता है'

'इसके लिए विवाह से पहले स्त्री और पुरुष दोनों की शारीरिक, मानसिक परीक्षा कराना कानूनन अनिवार्य होना चाहिए।'

'होना तो बहुत कुछ चाहिए। ये लेखक, साहित्यिक, अध्यापक, बौद्धिक, कलाकार आदि जो समाज को उपदेश देते फिरते हैं, उन्हें सबसे पहले अपने भीतर झांकना चाहिए। अपने को बचाकर वे औरों को उपदेश देते फिरते हैं। इसी से उन शब्दों का कोई असर नहीं पड़ता।'

'फिर 'क' का क्या हुआ ?'

'कुछ नहीं हुआ। वह चतुर व्यक्ति था। उसने पैसे के बल पर अपने आस-पास चेले-चेलियां जुटा लीं। अपने अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित करवा लिए। सब

'ठीक है।

'फिर उसी हिंदू धर्म में से निकले बौद्ध, जैन, सिख धर्मों में भिक्षु, मुनि, यती, सन्यासी, निरंकारी, निहंग, अविवाहित रहकर धर्म को अपना सब कुछ अर्पण कर देने वाले लोग निकले। वहां विवाह, बंधन से न जुड़ा हुआ, माता-बहन के रिश्ते से न जुड़ा हुआ अन्य सब स्त्री-पुरुष का एकांत समागम संदेह से देखा गया। क्या यह कामांध दृष्टि नहीं थी। उसमें अनेक ऋषियों-मुनियों, महापुरुषों के अप्सराओं के कारण अपने मार्ग से अलग विपक्षगामी होने की कहानियां हैं, 'मार' पर विजय की कहानियां हैं। अच्छे शीलवान पुरुषों पर परकीया के कारण लगे कलंक की कहानियां हैं।

'यह सब मैं जानती हूं। आप इन्हें क्यों दुहरा रहे हैं?'

'इसी मत को और पुष्टि इस्लाम और ईसाई मत और पारसी धर्म के आने पर मिली। शैतान ने हव्वा को दिया हुआ फल ही सब पापों का प्रश्न मूल पाप (ओरीजिनल 'सिन') मान लिया गया। इस्लाम में अल्लाह पुरुष है। पारसी धर्म में स्त्री-पुरुष समानता तो कही गई पर कहीं भी उन्हें मुक्ताचरण की छूट नहीं है।'

'आप अपनी केस-हिस्टरी पर आइये'

'हमारे इस व्यक्ति का नाम 'क' है। हमने अनेक स्त्रियों से विवाद करने के [illegible] किये। पहले उसके बचपन की बात बताता हूं। इसकी मां बचपन मर गई। और कोई सगी बहन नहीं थी। यह तीन भाइयों में मंझला था, और उपेक्षित था। बड़े भाई की शादी हो गई, जब यह 'क' समझदार बना। वय प्राप्त हुआ। तो सेक्स के प्रति कुतूहल बढ़ा। कुसंगत में पड़ गया।'

'आगे क्या हुआ।

'वह एक लड़की से प्रेम करता था। उसे पा न सका। उससे उसे बेहद घृणा हो गई। उसी से नहीं उसके घरवाले, उसके भाई, उसके रिश्तेदार सबसे तिरस्कार करने लगा।'

'क्या उसने अपने अकेलेपन से बचने के लिए कोई मार्ग खोजा?'

'हां, वह लेखक बन गया।'

'क्या लेखन से अकेलापन कम होता है, या बढ़ता है?'

'इस 'क' के मामले में उसकी प्रेमांधता बढ़ती गई। वह हर नई स्त्री या लड़की से मिलता। उससे विवाह का आश्वासन देता। और उसे छोड़ देता। जैसे वह अलग-अलग खाने की जगह जाता या अलग-अलग खाने चखता, उसकी यह लंपटता भी धीरे-धीरे आदत में शामिल हो गई।'

'क्या उसे कोई अच्छे लेखक नहीं मिले? कोई आदर्शवादी या सिद्धांत के पक्के लोग?'

'वह उनसे नफरत करने लगा। वह आर्यसमाजियों को मुस्लिम लीग वालों जैसा मानने लगा। वह गाधीवादियों को ढोंगी कहने लगा। उसने लेख लिखा—गाधीवाद जहरवाद है। यह बात दूसरी है कि दयानंद या गाधी अपनी जगह थे। उनके मानने वाले इस गरीब के लिखने से कम नहीं होते थे।'

'पर वह ऐसा क्यों करता था?'

'उसके जैसे और भी समान-व्यसनी लोग थे। अब उसने उन सब विदेशी, देशी और हिन्दी के लेखकों की जीवनियां जमा करनी शुरू की, जिसमें अनेक स्त्रियों से प्रेम करने के किस्से थे।'

'आश्चर्य है, क्या ऐसे लेखक बहुत थे या हैं?'

'उसने यह खोज जारी रखी। कई लेखक थे जिन्होंने न केवल एक विवाह के बाद विवाहेतर सम्बन्ध रखे। एक साथ अनेक प्रेमिकाएं रखीं। विवाहिता और प्रेमिका को एक-दूसरे से छिपाये रखा। कई लोग ऐसे थे जिनकी प्रेमिकाएं दूसरों की पत्नियां थी। या यदि वे अध्यापक या प्रोफेसर थे तो उनकी प्रेमिकाएं थी। या उनके साथ कार्यालयों में कार्य करने वाली स्त्रियां थी। बहुत कम उनमें थे जो प्रेमिका के लिए पत्नी को छोड़कर निर्ममता-पूर्वक बिना विवाह किये प्रेमिका के साथ रहने लगे।'

'क्या वे सब समान वय, समानधर्मा थे?'

'नहीं ऐसे लेखकों ने बुढ़ापे में युवतियों से शादियां की, सम्बन्ध रखे। कुछ उसमें और दुखी हुए। प्रेमिकाएं उन्हें छोड़कर भाग गयी या उनके साथ वही करने लगी जो वे उनके साथ करते थे।'

'पर एक घरमें रहकर यह सब दोहरी जिंदगी कैसे जी पाते थे?'

'एक तो भारतीय स्त्री बहुत सहनशीला है। कुछ पत्नियों ने यह स्थिति अपने भाग्य के दोष से बताई। कुछ पत्नियों ने यह सोचा कि उन्हें सन्तान नहीं है, इससे पुरुष ऐसा एक से अधिक स्त्रियों से सम्बन्ध रखते हैं।'

'पुरुष में भी तो दोष हो सकता है'

'इसके लिए विवाह से पहले स्त्री और पुरुष दोनों की शारीरिक, मानसिक परीक्षा कराना कानूनन अनिवार्य होना चाहिए।'

'होना तो बहुत कुछ चाहिए। ये लेखक, साहित्यिक, अध्यापक, बौद्धिक, कलाकार आदि जो समाज को उपदेश देते फिरते हैं, उन्हें सबसे पहले अपने भीतर झाकना चाहिए। अपने को बचाकर वे औरों को उपदेश देते फिरते हैं। इसी से उन शब्दों का कोई असर नहीं पड़ता।'

'फिर 'क' का क्या हुआ?'

'कुछ नहीं हुआ। वह चतुर व्यक्ति था। उसने पैसे के बल पर अपने आस-पास चेले-चेलियां जुटा लीं। अपने अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित करवा लिए। सब

वड़े पुरस्कार प्राप्त कर लिए। विदेशी सांस्कृतिक प्रतिनिधि मंडलों में वह गया। और आखिर इस तरह की 'फास्ट' (तेज) ज़िंदगी विताने से वह जल्दी ही मर गया।'

'तो आपका कहना है कि इस अंधेपन का कोई इलाज नहीं है ?'

इलाज तो दो तरह का हो सकता है, एक तो व्यक्ति अपने आपसे शुरू करे। शुद्धता या स्वच्छता का महत्व समझे तो पाप का प्रायश्चित करे। कुछ धर्मों में उसकी व्यवस्था है। कुछ में कठोर शारीरिक दंड भी है। दूसरा, समाज अधिक जागरुक हो और इन बुराइयों को बुराइयां माने और उनके प्रति सजग हो। आज तो समाज के विवेक के ठेकेदार ये अखवार, ये राजनेता, ये संस्थाएं सब ऐसे ही लोगों से भर गई हैं। उनमें सब तरह के अतृप्त लोग भर गये हैं। सामूहिक बहिष्कार जैसा एक उपाय पहले कारगर था। पर अब नये चिंतन ने व्यक्ति को उसके नैतिक उत्तरदायित्व से बरी कर दिया है। हर आदमी सोचता है—'मुझे क्या करना है, यह उसका व्यक्तिगत मामला है।'

फिर इसी तरह धर्मकीर्ति रोज़ एक कहानी सुनाते गये। उनका मानना था कि दमित, विकृत या प्रदूषण फैलाने वाली कामांधता ने ही समाज में क्रोधांतता फैलाई है।

यौनाचार का हिंसाचार से बहुत निकट का सम्बन्ध है। उन समाजों में जो बर्बर थे, या जो अपने आपको बहुत आधुनिक और वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी से भरपूर समझते हैं मुक्त और स्वैर काम-पूर्ति में से ही युद्ध, रक्तपात, एक पूरी प्रजाति या राष्ट्रक को शत्रु मानकर नष्ट करने की इच्छा जागृत होती है।

मैंने पूछा—आदिम या सामंतकालीन समाजों को आप आज के अति-प्रगत अमेरिका, पश्चिम जर्मनी या जापान जैसे देशों के समान कैसे मानते हैं ? इन नये और आगे बढ़े हुए देशों में तो सब तरह के सुख-सुविधा के, आमोद-प्रमोद के साधन हैं। वहां आपकी अतृप्त काम या कामांध होने की बात कैसे लागू होती है ?

धर्मकीर्ति बोले—आग में ईंधन डालने से आग कम नहीं होती। समुद्र में सब मीठे पानी की नदियां आकर मिलने से उसका खारापन कम नहीं होता। मैं अपने ही देश में पंजाब का उदाहरण लेता हूं। इस प्रदेश में गये दो दशकों में आर्थिक खुशहाली बढ़ी। हर किसान के पास ट्रैक्टर और सुख सुविधाएं आदि। कुछ लोगों के पास कार, टेलीविजन विदेश यात्राएं करने की सुविधाएं बढ़ीं। एक पूरी पीढ़ी पैसा कमाने और और-और अमीर बनने की अंधी चूहा-दौड़ में जुट गई।

मैंने पूछा—क्या आप समझते हैं कि उन्होंने बंटवारे से जो अभाव झेला उसकी यह प्रतिक्रिया नहीं थी ? लाहौर बंटवारे से पहले पैरिस था। फिर वही

हालत वे नये कटे हुए पंजाब में लाना चाहते थे। हिंदू और सिख दोनों ही उद्योगीकरण में जी-जान से जुटे। कैरों हो या बंसीलाल पंजाब और हरियाणा दोनों तेजी से कारखानों, छोटे उद्योगों के प्रदेश बन गये। उद्योगीकरण के साथ खाने-पीने, मौज उड़ाने की इच्छा भी बढ़ी। आधुनिकीकरण का मतलब पश्चिम की नकल हो गया। सिख पहले से ही इंग्लैंड, अमेरिका, कैनाडा, हांगकांग, सिंगापुर सब जगह व्यापार-उद्योग से गये थे। यह एक प्रगतिशील समाज बन गया।

धर्मकीर्ति—लोभांध, मोहांध प्रजातियां मदांध होती जाती हैं—इतिहास साक्षी है। इन लोगों में एक नई पीढ़ी और कट्टर उभरने लगी जो अपने मां के इस रहन-सहन से सख्त नफरत करने लगी। वह आदर्शवादी पीढ़ी थी। उसमें हिंदुओं के राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की ही तरह शुद्धिवादी—अपनी नस्ल और अपनी पहचान अलग से बनाये रखने की और उसके लिए बड़ी-से-बड़ी कुरबानी और दाहादत करने का माद्दा बढ़ा या बढ़ाया गया। नये गुरु उन्हें क्रोधांध बनाने लगे। यदि कामांध भय या लज्जा छोड़कर चाहे जहां अपना 'एकांत' खोज लेता है, तो क्रोधांध का भी एक ही 'अंत' या लक्ष्य होता है। बाकी बातों के लिए वह अंधा होता है। हाल के भारत के इतिहास में इसी तरह की नफरत का जज्बा फैलाकर खुदगर्ज मुस्लिम नेताओं ने 'पाकिस्तान' बना ही लिया था फिर भाषा के मामले पर आग्रह करके पूर्वी पाकिस्तान उससे टूटकर बांग्ला देश बन गया। जैसे राजनीति में वैसे ही व्यक्ति के जीवन में छोटे-छोटे अभाव बहुत बड़ी कर्म-प्रेरणा बन जाते हैं—अच्छे और बुरे दोनों कामों के लिए। जूता पालिश करते हुए अपमानित होने पर कोई बच्चा स्मगलर बन जाता है। तो एक स्त्री के प्रति लंपटता से 'रामायण' और 'महाभारत' मच जाते हैं। ये सब अंधेपन के ही ढंग हैं। इन बातों में लड़कियों से छेड़खानी करने वाले मजनुओं या किसी तरह दूसरे को उल्लू बनाकर पैसा मारने वाले ठगों, पाकिटमारों, मुनाफाखोरों और भ्रष्टाचारियों में एक ही तरह की नैतिक गिरावट देखता हूं, जो बड़े राष्ट्रों के आणविक सामरिक हथियार जमा करने, बेचने और दूसरे देशों को सदा लड़ाते रहने में देखता हू····'

'क्या मनुष्य अंधा होने को शापित है? कोई भी इच्छा उसे पागलपन या जनून तक पहुंचा देगी। और इच्छा नहीं होगी तो वह तो विरागी बन जायेगा। जंगल में भाग जायेगा और हिमालय में योग ही करता बैठेगा। ऐसे 'साधुओं' के मारे तो देश में विदेशी आकर बस गये। बहिरागत व्यापार करने लगे। वे धीरे-धीरे पूरे देश के मालिक बन बैठे। एशिया में गोरी साम्राज्यशाही यों ही बढ़ी। केवल शांति के उपदेश से क्या इन मुसीबतों से हम बच सके?'

मैं यह सब सोच ही रही थी कि धर्मकीर्ति ने एक उपाय मुझे बताया कि

मुझे पुराने ग्रंथ पढ़ने चाहिए। उनसे शायद मन की शांति मिले। मैं अपने शारीरिक अंधेपन में एकदम निराश हो चुकी थी। सोचती थी कि आजीवन अब इसी तरह रहना पड़ेगा—दूसरे पर निर्भर।

रोज का समाचार पत्र सवेरे दिशू आकर सुनाती। उसमें हत्या, हिंसा, बलात्कार, मानव का मानव के प्रति प्रपीड़न पढ़-पढ़कर मेरा मन बहुत कटु हो गया। मैं हलका-फुलका संगीत सुनने लगी। उसमें भी इसी तरह की सामूहिक विजय की, मनुष्य की पशु-प्रवृत्तियों को लहकाने वाली कई बातें थी—श्रृंगार के गीत हों या वीररस के दोनों में यह 'अंधता'—उत्कटता, उत्तानता ज़्यादह थी। 'पोप म्यूज़िक' और युद्ध के नगाड़े और तुमुलनाद में मुझे कोई अंतर नहीं लगता था।

कभी-कभी मेरे मन में ऐसी दिल दहलाने वाली बातें सुनने पर आत्महत्या की बातें उठा करती थीं। क्या है? थोड़ी-सी सोने वाली गोलियां ज़्यादह ले ली और सदा के लिए सो गये।

ऐसे निराशा के क्षणों में दिशू ने 'महाभारत' के अंश पढ़कर सुनने शुरू किये।

8

दिशू 'महाभारत' के 'उद्योगपर्व' का बयालीसवां अध्याय पढ़ रही थी—'सनत्सुजातपर्व'। दर्शना सुन रही थी और सोच रही थी कि क्या भारत में चार हजार बरसों से मनुष्य वही रहा है? नहीं-नहीं, भारत ही नहीं, सारी दुनिया में कुछ है जो मनुष्य को ऊपरी-ऊपरी बदलाव के बाद भी वैसा ही रखता है। उस मूल से ही मूल्य बनते हैं। नहीं तो महाभारत के पीटर ब्रुक्स के नये मंच-रूप को देखकर सारा युरोप और आस्ट्रेलिया, पैरिस और टोकियो यों प्रकंपित नहीं हो उठते? क्या है वह महाभारत के अंधे पात्र धृतराष्ट्र और सनत्सुजात की बातचीत। आदि व्यास के ही शब्दों में सुनें—

धृतराष्ट्र—यह प्राज्ञ विदुर कहता है कि तुमने 'मृत्यु नहीं है' यह बात अपने शिष्यों से कही है। क्या यह सच है?

सनत्सुजात—हां, यह सच है।

धृ०—पर इंद्र जैसे देव और विरोचन जैसे असुर जब मृत्यु को जीतकर अमरता पाने के लिए प्रजापति गुरु के पास जाकर ब्रह्मचर्य पालन करते हैं। इसका मतलब मृत्यु तो है। और उससे परे जाने की इच्छा देवता और असुर दोनों करते हैं।

सन—विदुर ने कहा था कि जीव एक नदी है। धर्म उसका घाट है। सत्य ब्रह्म उस नदी का मूल उद्गम है। धैर्य नदी तीर है। दया उस नदी की ऊर्मि है। संसार नदी पांच इंद्रियों के जल से भरी है। काम और क्रोध इस नदी के मगर हैं। तू धृति की नाव बनाकर इस नदी को पार कर…

धृ०—तो बताओ, ऐसे जीवन में विषयों से परे जाने में ही मुक्ति है यह जब सच है, तो विषयों से जो लोग अंधे हो जाते हैं। उन्हें मुक्ति कैसे मिलेगी?

सन—हे क्षत्रिय श्रेष्ठ, मृत्यु है भी और नहीं भी है।' उसे समझें।

धृतराष्ट्र—पर ये तो दो एक-दूसरे की विरोधी बातें हैं। ये दोनों एक साथ कैसे रह सकती हैं?

सन०—मोह ही मृत्यु है। मृत्यु सत्य नहीं है। मोह का अर्थ है मिथ्या ज्ञान। यह अनादि अविवेक है। परंतु मैं तो मोह को भी नहीं मानता। मैं कहता हूं प्रमाद मृत्यु है। प्रमाद यानी स्वाभाविकता से चूकना। हम आत्मा का स्वभाव नहीं जानते और वही मृत्यु की ओर बढ़ना है। आत्मा एक है, उसके जैसा दूसरा नहीं। वही सब प्राणियों में है। यह जान लेना ही मृत्यु से बचना है।

धृ०—मगर तुमने यह जाना कैसे कि प्रमाद ही सब अज्ञान का मूल है।

स०—प्रमाद से हार होती है। विरोचन की हार हुई, इंद्र जीता। एक ने प्रमाद किया। दूसरा अप्रमादी था।

धृ०—मुझे तुम्हारी बात जचती नहीं। मैं देखता हूं कि कीट-पतंग, पशु-पक्षी सब मरते हैं। जो जिंदा है, उसका एक न एक दिन नाश निश्चित है। ऐसी हालत में तुम कहते हो कि प्रमाद से मृत्यु आती है। सो कैसे?

स०—मृत्यु आदमी को बाघ की तरह नहीं खाती। ऐसा होता तो उसका स्वरूप दिखाई देता। पर मृत्यु का कोई ऐसा आकार नहीं, इसलिए मैं कहता हूं कि मृत्यु है ही नहीं।

धृ०—पर सावित्री की कहानी में सत्यवान के शरीर में से पाशबद्ध अंगुष्ठ मात्र पुरुष को यमराज खींचकर ले गये, यह सावित्री ने देखा—ऐसा कहा गया है। फिर भी आप कहते हो कि मृत्यु नहीं है।

स०—सावित्री को जो दिखाई दिया वह साक्षात मृत्यु नहीं। वह आत्मा के अज्ञान का रूप है। 'मृत्यु र्वै तमः ज्योतिष्पृतम्' मृत्यु अंधकार है, ज्योति ही अमरता है। सबसे पहले आदमी को अंधा बनाता है 'आलस्य' का काम। उसमें अ कार है। वही मृत्यु का मूल है। मैं ब्राह्मण हूं, तुम क्षत्रिय हो, वह शूद्र है—यह

सब अहंकार, काम, क्रोध और मोह हैं। यही मृत्यु के अलग-अलग रूप हैं। मैं फलां-फलां का बेटा हूं, पोता हूं, फलां वंश का हूं यह अहंकार की मृत्यु है।

धृ०—यह सब तो ठीक है, पर धैर्य से ये सब विषय जीतकर आदमी मृत्यु से परे कैसे जाता है ?

स०—राजा, एक बार यह पता लगने पर कि ये रोग हैं, अशुद्ध पदार्थ हैं, आदमी उनसे वीतराग हो जाता है और मृत्यु उसे डरा नहीं सकती पर जो आदमी अनित्य के दोष न देखकर उन्हीं में डूब जाता है। उसे पग-पग पर असुरक्षा, अनिसता मृत्यु-ही-मृत्यु दिखाई देती है।

धृ०—यह सब सुनने में अच्छा है, पर हर चीज़ को यहां देह है। और देह सबको प्रिय है। उसे छोड़ भी तो नहीं सकते।

स०—जैसे अंधे उनके सामने कुंआ हो तो भी उसे न देखकर उनमें गिर पड़ते हैं, वैसे ही सब लोग इन विकारों से अंधे हो जाते हैं। और सामने जो है उसे भी नहीं देख पाते। पढ़ाई-लिखाई से कुछ नहीं होता। छह शास्त्र और चार वेद पढ़ने वाला पुरुष विषयविषांध होकर भुस से भरे बाघ की तरह बेकार हो जाता है। वसिष्ठ कहते हैं—"वेद रूपी शब्द राशि के बोझ से ब्राह्मण की हालत उस गधे की तरह है जो नहीं जानता कि वह क्या लादकर ले जा रहा है।" इस तरह का आदमी अपनी मृत्यु स्वयम् है।

'इस तरह से 'महाभारत' में एक ही बात को कितनी-कितनी बार समझा-समझाकर कहा गया,' दिशू बोली।

उदास दर्शना ने कहा—दिशू, रहने दो। तुम्हें यह सब मौत की बातें अभी से सोचकर क्या करना है। इतनी बड़ी ज़िंदगी तुम्हारे सामने पड़ी है।

दिशू—पर उससे बचाव भी कहां है ? पग-पग पर वह चेतावनी, चुनौती की तरह खड़ी है। उसे जिंदगी कह लो या मौत क्या फर्क पड़ता है ?

दिशू चली जाती तो अब मैं अन्तर्मंथन में उलझ जाती। मुझे लगता कि मेरे दो हिस्से हो रहे हैं, हो गये हैं, हो चुके हैं।

एक का नाम दर्शना है, और दूसरी का गांधारी। शायद हम सब में यह दोनों होते हैं। हर एक मन में एक दृष्टा और एक भोक्ता है। एक के सिर्फ आंखें है, दूसरे के सब कुछ है, सिर्फ आंखें ही नहीं हैं। बल्कि आंखें होने पर भी उसने अपनी आंखों पर पट्टी बांध रखी है। यह दर्शना और गांधारी के संवाद ही शायद इस मेरी कहानी का सबसे अहम् हिस्सा है।

दर्शना—क्यों मरने जा रही है ?

गांधारी—मरूं नहीं तो क्या करूं ?

दर्शना—क्या इस जीवन का सब कुछ तुमने देख लिया है ?

गांधारी—मैं देखती कहां हूं।

दर्शना—मेरा मतलब क्या तुमने वह सब कुछ भोग लिया है, जो है ?

गांधारी—वह तो कभी समाप्त ही नहीं होगा।

दर्शना—इसलिए तू खुद उसे समाप्त करना चाहती है ?

गांधारी—मैं उस तकलीफ से छुट्टी पाना चाहती हूं।

दर्शना—क्या यों वह छूट जायेगा ?

गांधारी—ऐसा मैं मानती हूं। आप मरा जग डूबा।

दर्शना—जग यों आसानी से डूबता नहीं है। एक का दु:ख बन्द कर देने से सब का दु:ख नहीं बन्द हो जाता :

गांधारी—फिर मैं क्या करूं ?

दर्शना—मैं वह कहूंगी, जो तू करेगी नहीं।

गांधारी—क्या है वह ?

दर्शना—आंखों पर से पट्टी खोल।

गांधारी—पर इस तरह से मैं अपने वचन से मुकरूंगी। अपनी प्रतिज्ञा तोड़ूंगी। वह विश्वासघात होगा।

दर्शना—इसीलिए मैं कहती हूं तुमने अभी देखा ही क्या है ?

गांधारी—आदमी का सबसे खराब रूप देख लिया। वह हैवान और शैतान बन गया है।

दर्शना—पर वह भगवान भी बन सकता है। यह कभी सोचा है।

गांधारी—सोचने से सिर्फ क्या होगा ? जो सामने है वही सच है।

दर्शना—नहीं-नहीं, जो सामने है वह आधा सच है। इस सामने वाले सच से सच कितना बड़ा है। वह पीछे भी है आगे भी है। इधर भी है उधर भी है। वह एक जगह जमा हुआ पहाड़ नहीं है। वह बहता और रोज रूप बदलता पानी भी है। वह प्रवाह है। वह नाना रूप धारण कर सकता है।

गांधारी—यह सब मैं बहुत सुन चुकी हूं। पर यह अंधेपन का अभिशाप मुझे ही क्यों है ? मैं उससे निजात चाहती हूं।

दर्शना—गांधारी तू अपने शरीर को मार देगी, नष्ट कर देगी। पर अंधापन शरीर से पहले भी था, बाद भी रहेगा। वह अंधेरा मन में है। यहीं से वह से जन-जन में फैलता है।

गांधारी—मन को मारने का कोई उपाय नहीं है।

दर्शना—नहीं, बहुत से धर्मों ने और दार्शनिकों ने उसे दबाने, रोकने, उस पर लगाम डालने की बहुत सी बातें कही हैं।

गांधारी—मैंने वे सुनी हैं। पर वे मुझे विश्वसनीय नहीं लगतीं। सब तरह की सच्चाई और दया और काम-क्रोध को जीतने की कठोर तपस्या के बाद बड़े-

बड़े लोगों की फिसलन की कहानियों से पुराण भरे पड़े हैं। सारा इतिहास ऐसी ग़लतियों से भरा पड़ा है। फिर भी आदमी ग़लती पर ग़लती करता जाता है। ऐसा क्यों होता है?

दर्शना—दो गतियां हैं। एक नीचे की ओर एक ऊपर की ओर। संयोग की बात है। किसी को सीढ़ी मिल जाती है। किसी को सांप निगल जाता है।

गांधारी—यह भी बड़ी पुरानी बात है। सब बातें संयोग से ही होती तो आदमी को यह सोच-विचार करने की, अच्छा-बुरा समझने की ताकत किसने दी?

दर्शना—समाज ने सुविधा के लिए इसे बनाया।

गांधारी—मतलब तुम कहोगी कि लोग ज्यादह पैदा हो गए तो युद्ध इसलिए बनाए रचाए कि काफी सी तादाद मे आबादी खत्म हो जाये। वह सीधे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती हैं और जंगल का न्याय ही न्याय है, जोरावर से सब डरते हैं, यह पशु-नियम मानना हुआ। हम शायद वहीं के वहीं गोल-गोल घूम रहे हैं?

9

मेरा मन भारी था।

और कई तरह के सपने मुझे घेरने लगे। कभी मुझे सपने में बहुत ज्यादह चौंधने वाले सूर्यों की रोशनी दिखाई देती। कभी भांति-भांति के दैत्याकार यक्ष दिखाई देते। इधर मैं यक्षों के बारे में सुन रही थी—शायद उसी का असर हो। ये यक्ष और यक्षिणियां आदमी ने क्यों पैदा की? कहाँ से ये पैदा हुए?

—ये यक्ष किन्नर और गंधर्व के साथ याद किए जाते हैं।

—कभी-कभी राक्षसों के साथ भी इन्हें बुलाया जाता रहा है।

—कोई कहते हैं कश्यप और विश्वा की ये संतानें हैं।

—कोई कहते हैं प्रचेता के ये पुत्र हैं?

—पता नहीं क्या सच है?

'यक्षाम:' का मतलब है 'हम खा जायेंगे'। पर यक्ष शायद संस्कृत का शब्द ही नहीं है। यह आदिम जातियों की भाषाओं से आया। कहीं जक्ख, कहीं जाखो,

कहीं यक, कहीं यक्क ऐसे नाम मिलते हैं।

'महाभारत' के यक्षपर्व में ऐसे प्रश्न पूछने वाला जिनके उत्तर कोई नहीं दे सकेगा तो वह उन्हें खा जावेगा—इसलिए सदा अनुत्तरित रहने वाले प्रश्न यक्ष-प्रश्न कहे गये।

मेरे सपनों में भी बड़ी-बड़ी बाहर निकलने वाली आंखों का, लम्बा-चौड़ा, तगड़ा, अग्नि के वर्ण का, पर्वताकार, अजेय प्राणी आता रहता है। कभी कभी वह एकदम काली चट्टान के रंग का, बड़े पेट वाला, लाल कपड़े पहने, दीर्घ बाहु—कभी भी किसी को अपने हाथों में उठा लेने वाला और मार देने वाला वह दिखाई देता था।

यह पानी के तालाब के पास झाड़ियों में छिपा रहता था। यह कारवां और सार्थवाह को रोककर दोनों के सब पशुओं को खा जाता है। उसके पास बहुत पैसा जमा होता है। वह पैसे तो खा नहीं सकता। पैसेवालों को खा जाता है।

यह यक्ष बहुरूपिया होता है।

यह कभी-कभी बड़े सुन्दर पुरुष का वेश धारण करता है। यह इतना आकर्षक होता है कि दमयन्ती के स्वयंवर में आये नल को स्त्रियां यक्ष समझती थीं।

यह मेरा सपनों का यक्ष मुझसे जहां हो वहां बारिश ले आता है। फिर खूब हरियाली फैलती है, अन्न खूब उगता है। फल वृक्षों को बहुत ज्यादह आते हैं। केले के पेड़ को केले ही केले लटकते हैं। आम के पेड़ पर पत्ते नहीं आम ही आम दिखाई देते हैं। सेब का पेड़ सेबों से लाल-लाल हो जाता है। कटहल के पेड़ का तना ही नहीं दीखता—सब कटहलों से ढक जाता है। ऐसा गजब का जादूगर यह यक्ष सब तरह की अच्छी चीजों का, सम्पत्ति का विपत्ति में रक्षण भी करते हैं। और गुस्सा हो जायें तो विघ्नहर्ता के बजाय विघ्नकर्ता भी बन जाते हैं।

यह यक्ष एक दिन सपने में आकर मुझसे तरह-तरह के सवाल पूछने लगा। बोला—जवाब दे, वर्ना मैं तुझे मार डालूंगा।

मैंने डरते-डरते कहा—पूछ तू सवाल। पर मेरी बुद्धि ही कितनी है। मैं क्या जवाब दे सकती हूं। नहीं आयेगा तो नाक ना कह दूंगी।

उसने पूछा—मेरा मालिक या स्वामी कौन है?

मैं—तुम्हारा मालिक कौन हो सकता है? तुम्हारे ही सब सेवक हैं।

यक्ष—नहीं, है। बताओ?

मैं—शायद कुबेर है।

यक्ष—ठीक कहा। कुबेर के पास सबसे ज्यादह पैसा है। वही हम सबका मालिक है। मेरे भाई कौन हैं?

मैं—मेरे भाइयों के नाम बताओ पूछते हो—पर मैं क्या जानूं?

यक्ष—मणिभद्र, धनद, विशालक, हरिकेश, शेवला, सुपर्ण, वरुण, अर्दथा,

बड़े लोगों की फिसलन की कहानियों से पुराण भरे पड़े हैं। सारा इतिहास ऐसी ग़लतियों से भरा पड़ा है। फिर भी आदमी ग़लती पर ग़लती करता जाता है। ऐसा क्यों होता है ?

दर्शना—दो गतियां हैं। एक नीचे की ओर एक ऊपर की ओर। संयोग की बात है। किसी को सीढ़ी मिल जाती है। किसी को सांप निगल जाता है।

गांधारी—यह भी बड़ी पुरानी बात है। सब बातें संयोग से ही होती तो आदमी को यह सोच-विचार करने की, अच्छा-बुरा समझने की ताकत किसने दी ?

दर्शना—समाज ने सुविधा के लिए इसे बनाया।

गांधारी—मतलब तुम कहोगी कि लोग ज्यादह पैदा हो गए तो युद्ध इसलिए बनाए रचाए कि काफी सी तादाद मे आबादी खत्म हो जाये। वह सीधे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती हैं और जंगल का न्याय ही न्याय है, जोरावर से सब डरते हैं, यह पशु-नियम मानना हुआ। हम शायद वहीं के वहीं गोल-गोल घूम रहे हैं ?

9

मेरा मन भारी था।

और कई तरह के सपने मुझे घेरने लगे। कभी मुझे सपने में बहुत ज्यादह चौंधने वाले सूर्यों की रोशनी दिखाई देती। कभी भांति-भांति के दैत्याकार यक्ष दिखाई देते। इधर मैं यक्षों के बारे में सुन रही थी—शायद उसी का असर हो। ये यक्ष और यक्षिणियां आदमी ने क्यों पैदा की ? कहाँ से ये पैदा हुए ?

—ये यक्ष किन्नर और गंधर्व के साथ याद किए जाते हैं।

—कभी-कभी राक्षसों के साथ भी इन्हें बुलाया जाता रहा है!

—कोई कहते हैं कश्यप और विश्वा की ये संतानें हैं।

—कोई कहते हैं प्रचेता के ये पुत्र हैं ?

—पता नहीं क्या सच है ?

'यक्षाम:' का मतलब है 'हम खा जायेंगे'। पर यक्ष शायद संस्कृत का शब्द ही नहीं है। यह आदिम जातियों की भाषाओं से आया। कहीं जक्ख, कहीं जाखो,

कहीं यक, कहीं यस्क ऐसे नाम मिलते हैं।

'महाभारत' के यक्षपर्व' में ऐसे प्रश्न पूछने वाला जिनके उत्तर कोई नहीं दे सकेगा तो वह उन्हें खा जायेगा—इसलिए सदा अनुत्तरित रहने वाले प्रश्न यक्ष-प्रश्न कहे गये।

मेरे सपनों में भी बड़ी-बड़ी बाहर निकलने वाली आंखों का, लम्बा-चौड़ा, तगड़ा, अग्नि के वर्ण का, पर्वताकार, अजेय प्राणी आता रहता है। कभी कभी वह एकदम काली चट्टान के रंग का, बड़े पेट वाला, लाल कपड़े पहने, दीर्घ बाहु—कभी भी किसी को अपने हाथों में उठा लेने वाला और मार देने वाला वह दिखाई देता था।

यह पानी के तालाब के पास झाड़ियों में छिपा रहता था। यह कारवां और सार्थवाह को रोककर टोलों के सब पशुओं को खा जाता है। उसके पास बहुत पैसा जमा होता है। वह पैसे तो खा नहीं सकता। पैसेवालों को खा जाता है।

यह यक्ष बहुरूपिया होता है।

यह कभी-कभी बड़े सुन्दर पुरुष का वेश धारण करता है। यह इतना आकर्षक होता है कि दमयन्ती के स्वयंवर में आये नल को स्त्रियां यक्ष समझती थीं।

यह मेरा सपनों का यक्ष जहां हो वहां बारिश ले आता है। फिर खूब हरियाली फैलती है, अन्न खूब उगता है। फल वृक्षों को बहुत ज्यादह आते हैं। केले के पेड़ को केले ही केले लटकते हैं। आम के पेड़ पर पत्ते नहीं आम ही आम दिखाई देते हैं। सेव का पेड़ सेवों से लाल-लाल हो जाता है। कटहल के पेड़ का तना ही नहीं दीखता—सब कटहलों से ढक जाता है। ऐसा गजब का जादूगर यह यक्ष सब तरह की अच्छी चीजों का, सम्पत्ति का विपत्ति से रक्षण भी करते हैं। और गुस्सा हो जायें तो विघ्नहर्त्ता के बजाय विघ्नहंता भी बन जाते हैं।

यह यक्ष एक दिन सपने में आकर मुझसे तरह-तरह के सवाल पूछने लगा। बोला—जवाब दे, वर्ना मैं तुझे मार डालूंगा।

मैंने डरते-डरते कहा—पूछ तू सवाल। पर मेरी बुद्धि ही कितनी है। मैं क्या जवाब दे सकती हूं। नहीं आयेगा तो साफ ना कह दूंगी।

उसने पूछा—मेरा मालिक या स्वामी कौन है?

मैं—तुम्हारा मालिक कौन हो सकता है? तुम्हारे ही सब सेवक हैं।

यक्ष—नहीं, है। बताओ?

मैं—शायद कुबेर है।

यक्ष—ठीक कहा। कुबेर के पास सबसे ज्यादह पैसा है। वही हम सबका मालिक है। मेरे भाई कौन हैं?

मैं—मेरे भाइयों के नाम बताओ पूछते हो—पर मैं क्या जानूं?

यक्ष—मणिभद्र, धनद, विद्यालक, हरिकेश, शेवला, सुपर्ण, वरुण, अर्दया,

बड़े लोगों की फिसलन की कहानियों से पुराण भरे पड़े हैं। सारा इतिहास ऐसी ग़लतियों से भरा पड़ा है। फिर भी आदमी ग़लती पर ग़लती करता जाता है। ऐसा क्यों होता है?

दर्शना—दो गतियां हैं। एक नीचे की ओर एक ऊपर की ओर। संयोग की बात है। किसी को सीढ़ी मिल जाती है। किसी को सांप निगल जाता है।

गांधारी—यह भी बड़ी पुरानी बात है। सब बातें संयोग से ही होती तो आदमी को यह सोच-विचार करने की, अच्छा-बुरा समझने की ताक़त किसने दी?

दर्शना—समाज ने सुविधा के लिए इसे बनाया।

गांधारी—मतलब तुम कहोगी कि लोग ज़्यादह पैदा हो गए तो युद्ध इस-लिए बनाए रचाए कि काफ़ी सी तादाद मे आबादी खत्म हो जाये। वह सीधे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती हैं और जंगल का न्याय ही न्याय है, ज़ोरावर से सब डरते हैं, यह पशु-नियम मानना हुआ। हम शायद वहीं के वहीं गोल-गोल घूम रहे हैं?

9

मेरा मन भारी था।

और कई तरह के सपने मुझे घेरने लगे। कभी मुझे सपने में बहुत ज़्यादह चौंधने वाले सूर्यों की रोशनी दिखाई देती। कभी भांति-भांति के दैत्याकार यक्ष दिखाई देते। इधर मैं यक्षों के बारे में सुन रही थी—शायद उसी का असर हो। ये यक्ष और यक्षिणियां आदमी ने क्यों पैदा की? कहाँ से ये पैदा हुए?

—ये यक्ष किन्नर और गंधर्व के साथ याद किए जाते हैं।

—कभी-कभी राक्षसों के साथ भी इन्हें बुलाया जाता रहा है।

—कोई कहते हैं कश्यप और विश्वा की ये संतानें हैं।

—कोई कहते हैं प्रचेता के ये पुत्र हैं?

—पता नहीं क्या सच है?

'यंक्षामः' का मतलब है 'हम खा जायेंगे'। पर यक्ष शायद संस्कृत का शब्द ही नहीं है। यह आदिम जातियों की भाषाओं से आया। कहीं जक्ख, कहीं जाखो,

हाँ यक, वहाँ यस्क ऐसे नाम मिलते हैं।

'महाभारत' के यक्षपर्व' में ऐसे प्रश्न पूछने वाला जिनके उत्तर कोई नहीं दे सकेगा तो वह उन्हें खा जायेगा—इसलिए सदा अनुत्तरित रहने वाले प्रश्न यक्ष-प्रश्न कहे गये।

मेरे सपनों में भी बड़ी-बड़ी दाहर निकलने वाली आंखों का, लम्बा-चौड़ा, तगड़ा, अग्नि के वर्ण का, पर्वताकार, अजेय प्राणी आता रहता है। कभी कभी वह एकदम काली चट्टान के रंग का, बड़े पेट वाला, लाल कपड़े पहने, दीर्घ बाहु —कभी भी किसी को अपने हाथों में उठा लेने वाला और मार देने वाला वह दिखाई देता था।

वह पानी के तालाब के पास झाड़ियों में छिपा रहता था। वह कारवां और सार्थवाह को रोककर टोलों के सब पशुओं को खा जाता है। उसके पास बहुत पैसा जमा होता है। वह पैसे तो खा नहीं सकता। पैसेवालों को खा जाता है।

यह यक्ष बहुरूपिया होता है।

यह कभी-कभी बड़े सुन्दर पुरुष का वेश धारण करता है। यह इतना आकर्षक होता है कि दमयन्ती के स्वयंवर में आये नल को स्त्रियां यक्ष समझती थीं।

यह मेरा सपनों का यक्ष सूखा जहां हो वहां बारिश ले आता है। फिर खूब हरियाली फैलती है, अन्न खूब उगता है। फल वृक्षों को बहुत ज्यादह आते हैं। केले के पेड़ को केले ही केले लटकते हैं। आम के पेड़ पर पत्ते नहीं आम ही आम दिखाई देते हैं। सेब का पेड़ सेबों से लाल-लाल हो जाता है। कटहल के पेड़ का तना ही नहीं दीखता—सब कटहलों से ढक जाता है। ऐसा गजब का जादूगर यह यक्ष सब तरह की अच्छी चीजों का, सम्पत्ति का विपत्ति में रक्षण भी करते हैं। और गुस्सा हो जायें तो विघ्नहर्त्ता के बजाय विघ्नहंता भी बन जाते हैं।

यह यक्ष एक दिन सपने में आकर मुझसे तरह-तरह के सवाल पूछने लगा। बोला—जवाब दे, वर्ना मैं तुझे मार डालूंगा।

मैंने डरते-डरते कहा— पूछ तू सवाल। पर मेरी बुद्धि ही कितनी है। मैं क्या जवाब दे सकती हूं। नहीं आवेगा तो साफ ना कह दूंगी।

उसने पूछा—मेरा मालिक या स्वामी कौन है?

मैं—तुम्हारा मालिक कौन हो सकता है? तुम्हारे ही सब सेवक हैं।

यक्ष—नहीं, है। बताओ?

मैं—शायद कुबेर है।

यक्ष—ठीक कहा। कुबेर के पास सबसे ज्यादह पैसा है। वही हम सबका मालिक है। मेरे भाई कौन हैं?

मैं—मेरे भाइयों के नाम बताओ पूछते हो—पर मैं क्या जानूं?

यक्ष—मणिभद्र, धनद, विशालक, हरिकेश, देवला, मुसरी, वरुण, कर्दमा,

भंडीर, गर्दभल्ल, पूर्णभद्र, समुद्र भद्र, सर्वतोभद्र, सुमनः···पूरे बावन नाम हैं।

मैं—मैं प्रश्न पूछ सकती हूं ?

यक्ष—पूछो। मैं तुझपर खुश हूं।

मैं—ये नाम मिलेंगे कहां ?

यक्ष—बौद्धों के महामायूरी ग्रंथ में।

इस तरह सपने में मुझे कई वार यक्ष महाशय मिल जाते। कभी-कभी कोई यक्षिणी भी मिल जाती। सांची के तोरण पर शालभंजिका की तरह यक्षिणी खड़ी है न ? ठीक वैसी ही। मैंने उससे पूछा—तुम्हारा नाम क्या है ?

यक्षी—विद्युत्माला।

मैं—और यह तुम्हारी सखी ?

यक्षी—चन्द्रलेखा।

मैं—और वह।

यक्षी—सुलोचना।

मैं सोचने लगी यह तो सब सिनेमा स्टारों के नाम बता रही हैं—कहीं सिनेमा स्टारों ने तो इनके नाम नहीं ले लिए ? फिर और कुछ यक्षियों के नाम पता लगे—

—आलोका।

—वेंदा।

—मघा।

—इमिसी का।

मैं—तुम सब में ऐसी कौन-सी खास बात है जो हम मानवियों में नहीं है ?

यक्षिणी—हमारे वदन से सुगन्ध निकलती है। और इसे सूंघते ही आदमी वेहोश हो जाता है।

मैं—अच्छा तो यह रहस्य है। यह तिलिस्म है आपके आकर्षण का ? आपसे इसीलिए लोग डरते हैं ?

यक्षिणी—नहीं, हमें बच्चे वहुत प्यारे हैं। हम बच्चों को भगाकर ले जाती हैं।

मैं—क्यों ?

यक्षिणी—हम उन्हें खा जाती हैं।

मैं सपने में डर गई। और उस रात जाग उठी—उठकर भी क्या फ़ायदा था ? अंधेरा तो सब ओर था। पता लगने का कोई कारण नहीं था। जब घड़ी ने रात के तीन बजाये तो लगा कि आज नींद गई। आंखें खुली रखूं या बन्द मुझे सारा कमरा यक्ष-यक्षिणियों से भरा दिखाई देने लगा।

मनुष्य की कल्पनाशक्ति भी विलक्षण है। स्वयं अजीब-अजीब चीजें सोचता

है और बाद में उन्हीं के जाल में फंस जाता है। "किंपक्ष ?…"

उस दिन मुझे बहुत आश्चर्य हुआ जब एक साहब मेरे ही घर में आकर अंधों के खिलाफ बोलने लगे। वे कहने लगे कि भारत सरकार विकलांगों के लिए इतना कुछ कर रही है, पर अंधे सबसे ज्यादह बोलते हैं। ऐसे ही लोगों पर गई पराजपे ने 'स्पर्श' लिखा। अब तो अंधों को कई मन्त्रालयों में, विद्यालयों में नौकरियां मिली हुई हैं। एक जमाना था जब सिर्फ सूरदास या के०सी०डे जैसे गायन विशारद बनना अन्धों का मुख्य कार्य था।

मुझसे चुप नहीं रहा गया। मैंने कहा—"आज भी कितने गरीब लोग गांवों में उचित चिकित्सा समय पर न पाने से अंधे बन जाते हैं।"

"उसका कारण गरीबी है", वे बोले।

"कुपोषण तो है ही, अज्ञान भी है। अभी भी कई झूटमूठ के डाक्टर बनकर और भी बिगाड़ देते हैं आंखों को। जरा-सी दृष्टि कमजोर हुई कि डरा देते हैं और रुपया ऐंठते हैं। हर व्यवसाय में अच्छे-बुरे लोग होते हैं। अब चिकित्सा का व्यवसाय भी धन्धा बन गया है।"

वे बताने लगे—"अब कृत्रिम आंखें बैठाई जाती हैं। आंखों के प्रत्यारोपण के ऑपरेशन होते हैं। आपको भी फिर से दृष्टि मिल सकती है। परीक्षा कराके तो देखें।"

मेरे निराश जीवन में फिर आशा का अंकुर जागा। मैंने जब आंखें अच्छी थी चार्ली चैप्लीन का 'ब्लाइंड गर्ल' देखा था। मैंने टैगोर की फूल बेचने वाली अंधी लड़की पर कविता पढ़ी थी। मैंने वी० के० गोकाक की 'कश्मीर में एक अंधा' कविता भी पढ़ी थी। दो तरह के अंधे होते हैं:

—जन्मांध।

—किसी दुर्घटना में दृष्टि खोने वाले।

दोनों को हम एक ही माप से तौलते हैं। क्या यह उचित है? प्रकाश क्या होता है? मैंने जाना नहीं कहने वाला अंधा और अब मेरे आंखों का प्रकाश नहीं रहा' कहने वाला अंधा—दोनों की मनोवृत्ति में अंतर है।

हम औरों के अंधेपन की बात क्यों करें। हम अपने ही भीतर क्या चल रहा है इसके बारे में अंधे हैं!

हम कल क्या होगा इसके बारे में अंधे हैं!

हम कुछ विषयों पर बात नहीं करना चाहते। हमारे अंधविश्वास इतना हमें जकड़े हुए हैं।

हम अंधे के हाथ में सफेद लकड़ी थमा देते हैं। पर खुद हमारे भीतर की अंधता को कौन-सी सफेद लकड़ी हमने दी है? वह कहां मिलती है? 'मन की मन ही माहिं रही' है।

वस्तुतः अंधता समाज की एक बहुत बड़ी समस्या का ही एक भाग है। हर विकलांग समझता है कि वह असुरक्षित है। हर बूढ़ा या बूढ़ी समझती है उसे कोई नहीं पूछेगा, जब हाथ पैर नहीं चलेंगे। बुढ़ापे के लिए कुछ पूंजी जमा कर रखने की वह सोचता है उसके लिए वह हर उपाय से धन जमा करता है।

हर रोगी यह समझता है कि उसकी देखभाल करने वाले सार्वजनिक अस्पताल अच्छे नहीं हैं। वह गलत दवाओं, इंजेक्शनों, गलत निदानों और पैसे के लोभी डाक्टरों का शिकार हो जायेगा। मरना तो उसे है ही एक न एक दिन पर पता नहीं क्यों जल्दी मरना नहीं चाहता।

यह असुरक्षा की भावना सर्वाधिक छोटे समूहों, छोटी संख्या के कमजोर, पिछड़े हुए, सामाजिक दौड़ में अपने आपको असहाय और सदा अन्तिम निचली सीढ़ी पर महसूस करने वाले वर्गों में पाई जाती है। वे अपने आपको 'अल्पसंख्यक' कहते है सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, भाषिक, प्रादेशिक अल्पसंख्यकों से यह देश भरा है। ये भी एक तरह के विकलांग ही हैं। मानसिक दृष्टि से प्रतिबंधित। एक तरह से मानसिक विकलांग। अंग्रेजी शब्द 'डिसेबल्ड' अच्छा है—इसका अर्थ है असमर्थ, अयोग्य, अशक्त, निर्बल।

हमने भारत में अछूतों को ऐसा कर दिया। दासशूद्रों के बाद स्त्रियों को यही कर डाला। और अब ज्यों-ज्यों इस देश में नये धर्म-पंथ आये, बने या पुराने, और नये धर्मानुयायिओं के संकट विकट हुए, हमने इस तरह से समाज के अल्पसंख्यकों की संख्या इतनी बढ़ा दी कि इस तथाकथित 'सेक्यूलर' या धर्म निरपेक्ष देश में यही बहुत बड़ी समस्याएं बन गईं कि किसने पूजास्थान में गलती से जूते पहनकर प्रवेश किया, या तालाब में किसने सिगरेट का पैकेट डाला, या किस औरत ने तलाक तीन बार नहीं कहा और अपने भरण-पोषण को पैसा मांगा, या कितने हजार बरस पहले किस मिथकीय देवता या राजा का जन्म कहां हुआ था या नहीं, या नबी का एक बाल इधर से उधर कैसे छिपाकर रख दिया...

मनुष्य की धर्मांधता और उसकी वजह से होने वाले रक्तपात का अंत नहीं है। सिर्फ हिन्दुस्तान नहीं, अपने आपको तरक्की पसंद कहलाने वाले पश्चिम के देशो में भी,उस तरह के अंधविश्वास कम नहीं हैं।

दर्शना के घर उस दिन एक विदेश यात्रा से लौटे महानुभाव आये थे। वे प्रायः सारी दुनिया देख चुके थे। वे बतला रहे थे कि अमेरिका में चीनियों के लिए अलग मुहल्ले होते हैं और उनका खाना साधारण अमेरीकी संदेह से देखते हैं। वजह! चीनी कुत्ते खा जाते हैं, अमेरीकी यह पसन्द नहीं करते। अमेरिका में काले नीग्रो लोगों के पूजा स्थान, स्कूल अलग हैं। युरोप में एक ही धर्म के माननेवाले लोगों में नस्ली और राजनैतिक तिरस्कार इतना अधिक है कि स्काटलैंड के ह्यू मैकडियार्मिड की कविताएं इंलैंड के खिलाफ पढ़िये, या आयरलैंड के लोगों

का अंग्रेजों से गहरा राजनैतिक मनोमालिन्य है। फ्रांस में भी एक देवी की मूर्ति से बराबर आंखों से पानी बहता है इस मान्यता में लाखों लोग वहां तीर्थयात्रा करते हैं। जर्मनी में यहूदी-ईसाई विद्वेष तो लाखों के नर संहार का कारण बना। इटली में पोप साहब के वेटिकन में एक खास चर्च में एक दरवाजा बारह बरस बाद खुलता है, सीढ़ियों पर घिसटते हुए खिसकते हुए चढ़ना पड़ता है—क्योंकि उन सीढ़ियों का पत्थर उस जगह से लाया गया है जहां ईसा को सूली दी थी। इत्यादि इत्यादि...

मैंने दिनू से कहा—इन सज्जन को वह सुभाषित सुनाओ जो तुमने कल पढ़ा था। दिनू ने सुनाया।

अन्धस्य मे हृतविवेकमहाधनस्य
चौरैर्विभो बलिभिरिन्द्रियनामधेयैः
मोहान्ध कूप कुहरे विनिपातितस्य
देवेश देहि कृपणस्यक विलम्बम्

राजानक कमलाकर कहते हैं :

'हे प्रभो मैं अन्धा हूं। मुझे दिखाई अथवा समझ नहीं पड़ता कि मैं क्या करूं कहां जाऊं, बलवान् इन्द्रिय नामवाले चोरों ने मेरा विवेक रूपी महाधन चुरा लिया है और मुझे मोह एवं अज्ञान रूपी अन्धे कुए के गहरे गड्ढे में डाल दिया है। अतः मुझ दीन को हे देवेश, अपने हाथों का सहारा देकर उठा लें।

"अपनी बात कहते-कहते मैं कहां-कहां भटक जाती हूं? पता नहीं लगता दिनू"

दिनू—"पर दीदी, आपको बीच-बीच में निराशा के ऐसे झोंके क्यों आते हैं? हैं दुनिया में करोड़ों आप जैसे लोग। पर सबने हिम्मत नहीं हारी। कई उनमें बहुत बड़े संगीतकार, वादकार, लेखक और साहित्यकार, विद्वान और शोधकार ही नहीं हुए, उन्होंने अपने जैसे और लोगों के लिए लड़ाई लड़ी और उन्हें न केवल नौकरियां दिलवाईं, परन्तु समाज में एक समान अधिकार के नागरिक का जीवन दिया-दिलाया। आप उन्हें देखें"।

"ठीक कहती हो तुम दिनू, पर मैं एक भारतीय निम्नमध्यवर्ग की गरीब नारी, अकेली, उपेक्षिता, विश्वास घात का शिकार बनी साधारण स्त्री—न मुझमें कोई विशेष रूप, न गुण, न विद्या, न प्रतिभा। क्या उसका भी ऐसी असहाय स्थिति में कोई भविष्य हो सकता है? सिवा अंधकार के उसके लिए क्या है?"

"ऐसा क्यों सोचती हो दर्शना दीदी, मैं तो हू आपका सहारा"

"कल तू भी चली जायगी अपने पति के घर। दूर देश। मैं क्या करूंगी उस हालत में? न मेरा बाल, न बच्चा। न निकट या दूर का संबंधी। जो हैं वे भी सिर्फ मैं मरती कब हूं और मेरी बैंक में जो भी पैसा है वह उन्हें कब मिलेगा, इस

घात में गिद्ध की तरह बैठे लोग हैं। ऐसी हालत में क्या होगा?'

"नहीं दीदी, एक दिशू नहीं तो और कोई तुम्हें मिल जायेगी। और मैं तुम्हें जन्मजनमांतर तक नहीं भूलूंगी। आपने मेरे ऊपर इतने उपकार किये हैं।"

"यह सब कहने की बातें हैं दिशू।"

"नहीं, अंधेरा हमेशा के लिए नहीं रहता अंधेरे के बाद प्रकाश भी आता ही है।"

"मेरा प्रकाश अब लौटकर नहीं आयेगा मुझे पक्का भरोसा है"

'दीदी, आप भावुक हो रही है। आपने ब्रेल लिपि सीखली। उसमें छपने वाली किताबें आप पढ़ सकती हैं। वह देहरादून से निकलने वाली 'ज्योति' पत्रिका आप ने पढ़ी। उसके पहले पन्ने पर प्रभाकर माचवे की कविता नहीं छपी थीं।"

"वह बड़ा पुराना अंक था। दिशू, यह बताओ कि क्या मैं इसी तरह अंधेरे में भटकती रहूंगी।"

'नहीं-नहीं। अब विज्ञान ने बहुत से नये आविष्कार किये हैं। अब आंखों का प्रत्यारोपण हो जाता है। आप जरूर देखेंगी। फिर इस दुनिया के सब अच्छे-बुरे रंग...'

वह बात आई-गई। मैं सोचती रही कि कोई चीज जो हम बहुत चाहते हैं, वह हमसे दूर हो जाती है या नजरों से ओझल हो जाती है तो क्या फिर वापिस मिलने पर वह चीज या वह हम वही वैसे ही रहते हैं? या उसे पाने की हमारी ललक बढ़ जाती है? या कम होती है? हम कुछ नहीं कह सकते। यह सब हमारी कल्पना है। कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि जो हम चाहते हैं वह नहीं होता, या जो चाहते हैं उससे उल्टा होता है, या फिर चाहना ही खत्म हो जा सकता है। हो सकता है हम आधे मन से चाहते हैं, या हमारी चाह सिर्फ हमारे मन का एक भ्रम है। चाहते-चाहते कभी चाहने वाला खुद चाह बन जाता है। या चाही जाने वाली चीज या व्यक्ति में रूपांतरित हो जाता है। इस तरह मैं कई व्यर्थ की चिंताओं में डूबी-उतारती रहती।

दिशू ने कहा—दीदी, वह कापी आपने कहां रखी है, जिसमें मंजुली की कविताएं थीं।

"क्यों"

"आप तो कहती थी मंजुली ने कहा था मूल रंग तीन हैं: नीला, पीला और लाल। आपने सिर्फ नीले और पीले पर कविताएं सुनी थीं। लाल रंग पर तो आपने नहीं सुनी।"

"चलो वही सुनते हैं। वह कापी उस सामने के दराज में है"

मंजु वह कापी खोजकर लाई। उसमें तो कई रंगों पर कविताएं थीं। उसने खोजकर लाल रंग पर कविता देखी। उसका नाम उसने 'अरुण' रखा था। पढ़ने

में पहले उसने एक शर्त रखी—'दीदी, कविता पढ़कर सुना दूंगी जरूर, पर आप उदास मत हो जाना। आप कविता कम सुनती हैं, मंजुली की याद में रोना शुरू कर देती हैं। आप धीरज से सुनें। और उसके बाद चुप न हो जायें"

सुनिये कविता —अरुण

बहुत सवेरे
पौ फटते ही
आसमान थोड़ा सा
गुलाबी हुआ
काला अभी हटा नहीं
काला और लाल बन
कुछ-कुछ किनराबी हुआ
शायद आधा नींद में
और आधा ख्वाब में
उठा हुआ मन का नभ
'हां' भी और 'ना' भी हुआ
निर्जन और नीरव थी
सब दिशा सुनसान
कोई इक्का दुक्का
काम पर जाता था श्रमिक इन्सान
अभी नहीं निकले थे
कुटिया से हल बक्खर ले
खेतों के लिए किसान
दूर तक कोहरा-सा
दिखते नहीं थे वृक्ष
ऐसे में सहसा सो
रंजित हुए छत, मचान
थोड़े-थोड़े शिखर
कर्वेलू या पहाड़ी पर मकान
बादल छितरे-बिखरे
कुछ ललास लिए पुंज में कपास
हलका गुलाबीपन
फैला चहुं ओर सहज
यहां वहां आसपास

लाल फूल की कली
और लाल लाज से
मानों भरी मजलिस में
कह दिये सब राज़ से
एक कहीं से आई
चिड़िया लाल चोंच लिये
इधर-उधर फुदक-फुदक
शाखपर जलाती दिये
उस ब्राह्मवेला की
शांति तोड़कर अथाह
जैसे किसी नदिया में
नाव आ गई उछाह
उसपे एक बैठा था
नाविक चुपचाप झुकाये माथा
चापू चलाता था
दिशा का उसे पता था
उसको ज्यों लगता था
निशा मे मिलेगी उपा
पानी में खड़ी हुई
उपासिका अलंबुषा
आयत नयना, कृशा,
घाट पर किनारे पर
अकेली प्रतीक्षा-तृपा
वहां वह ले जाये तरी खेकर
लाल वस्त्र पहने वह
कौन लाल माथे पर सिंदूर
लगाये लाल चूड़ा पहन
खड़ी वहां दूर-दूर
देखा है उसे कहीं पहले
पर कैसा यह चमत्कार
देखते देखते वही
अन्तर्ध्यान हुई कहीं
कंपित जल लाल लाल
धीरे-धीरे हुआ दाड़िम रक्तिम

ताम्रचूड़ देता बांग
लाल वस्त्र पहन वही
कामा से भिक्षा मांग
घूम रहा अब कहीं
लाल वह कहां गया
धीरे-धीरे दिनभर
गायब रहा छिपा रहा
शाम हुई, फिर क्षणभर
क्षितिज पर वही रंग
गाढ़ा हुआ नव ले सब
संध्या को आसमान
काला और लाल बन
कुछ कुछ शराबी हुआ
गिरा हुआ मन का नभ
'हां' भी और 'ना' भी हुआ
निर्जन और नीरव भी
सब दिशा सूनसान
कोई इक्का दुक्का
काम से लौटता
मजदूर इन्सान !

मंजुली की कविता सुनकर दर्शना ने दिशू से सिर्फ इतना ही कहा—ये तीन रंग हो चुके। नीला, पीला, लाल - अब आगे मत पढ़ना। मैं सब समझ गई।

दिशू ने बहुत खोद खोदकर पूछा - क्या समझ गई ?

दर्शना ने कुछ भी आगे नहीं कहा।

10

घेपन को मैंने अपनी नियति मान लिया था। उसमें कोई मुक्ति की राह नहीं थी।

तभी एक दिन डॉक्टर विद्याधर आये। और उन्होंने मेरी आंखों का सारा

इतिहास सुना। परीक्षा की। उन्होंने कहा—'और विशेषज्ञों से पूछकर मैं बता दूंगा।'

डॉक्टर विद्याधर ने सब जांच करके कहा कि 'हम कोशिश करके देखेंगे। दर्शना शायद फिर से देखने लग जायेगी।'

यह 'शायद' सारे प्रयोगों के मूल में है। इसी शायद के भरोसे आदमी जिंदा है। शायर ने कहा है

शमआ इस उम्मीद पर ही रात भर रोती रही
कि शायद सुबह तक जिंदा मेरा परवाना हो जाये

मैंने भी बड़ी आशा लगाई थी कि वह दुनिया जो मेरे लिए एकदम अंधेरी हो गई थी, जिसमें सिवा काले ही काले के कुछ नहीं दीखता था, वह एकदम फिर प्रकाशित हो जायेगी तो कैसे लगेगा ?

क्या मैं फिर से वैसे ही देख सकूंगी, जैसे पहले देख सकती थी। साफ़-साफ़। या धीरे-धीरे धुंधलाते हुए यथार्थ दिखाई देगा।

पहले लगेगा जैसे किसी माया का आवरण फैला है। जैसे मैं किसी जालीदार पर्दे में से देख रही हूं। या भूरे अपारदर्शी कांच में से। या हो सकता हैं मेरे देखने और दिखाई देने वाली चीज़ के बीच में धुंए की हलकी-सी पर्त हो।

फिर कुछ देर बाद शायद लगेगा कि मैं सत्य नहीं देख रही थी। यह तो निरा स्वप्न था। मैं अपने मन के भीतर जो धारणा है उसी को सब चीजों पर थोपकर देख रही हूं। यह सत्य यथार्थ नहीं निरा आभास है। या मन का प्रक्षेपण। "मेंटल प्रोजेक्ट" मात्र।

पर यह न निरा आवरण है, न विक्षेप, यह तो अध्यास है। यानी एक चीज़ पर दूसरी चीज़ का झूठा अध्यारोप। जैसे चाँदनी रात में हम देख रहे हैं रस्सी, पर दिखाई दे साँप। हम देख रहे हैं सीप, पर दिखाई दे चांदी। यह एक तरह से शुद्ध मन का धोखा है। लेकिन 'अपने ही, मन ने उसे पैदा किया है। वह कहीं बाहर से नहीं आया है।

हम अपने जीवन में पता नहीं कितने-कितने इस तरह के भ्रम पालते रहते हैं। हम मानते हैं कि मनुष्य एकदम देवता है। या इससे उलटे हम मानकर चलते हैं कि मनुष्य एकदम पशु है।

अब इस सती-कांड को लेकर ही कितनी-कितनी बातें कही गईं। किसी ने कहा—"बेपढ़ी-लिखी औरतें ऐसी बेवकूफी करें तो ठीक हैं—पर यह स्त्री, उसका पति, उनके मां-बाप सब पढ़े-लिखे थे। उपाधिकारी थे। शिक्षक थे। बोलिये, अब आपको क्या कहना है ?

किसी ने कहा—उसे नशा दे दिया था।

किसी ने कहा—पति मिरगी का असाध्य रोगी था। वह जीवन से

निराश थी।

किसी ने कहा—उसके गहने हड़पने का मुसरालवालों का इरादा था। कितने किलो सोना इसमें जमा था। सोना का किलो बनते क्या देर लगती है। तिल का ताड़ इसे कहते हैं।

किसी ने कहा—वह विधवा की तरह बच भी जाती तो उसे कौन-सा भविष्य था?

और एक बोले—हमारी सांस्कृतिक परम्परा में दखल डालने वाली कौन होती है सरकार। राजस्थान में पचासों सती चौरे पूजे जाते हैं।

किसी ने कहा—एक समाजवादी अपने आपको कहने वाले संपादक ने ऐसे कैसे लिख दिया कि "रूपमती स्वेच्छा से सती हुई!"

दूसरे ने कहा—उनका घेराव करो। पीटो उसको ऐसे नारी-विरोधी कथन के लिए।

एक ने उसका पक्ष लिया—पर उस संपादक ने और भी तो लिखा है नारी के अधिकारों के हक़ में—इस एक वाक्य के आगे-पीछे के तर्क तो देखो।

कौन सुनता है। इलाहाबाद के एक कवि ने तो "अतएव" में एक पूरी कविता ही लिख डाली। कविता बहुत अच्छी है। इसलिए हम उसके हिस्से यहां दे रहे हैं। कविता है "मैं तुम्हें आवाज देता हूं," और लेखक हैं उपेन्द्रनाथ 'अश्क'। उस कविता का दूसरा छंद यों शुरू होता है और पांचवें छंद तक वह यों चलती है;

(2)

"तुम्हारा अग्रलेख पढ़कर मैं तिलमिला उठा
सारी रात दिमाग में लावा खौलता रहा
जाने क्या-क्या कहता रहा मैं तुम्हें अर्ध-निद्रा में
करवटें बदलता हुआ।
बूढ़ा घायल बघेला दहाड़ता रहा
मेरे दिमाग के सन्नाटे में सारी रात
चांदनी का सीना छिलता रहा
ज़ख्मी परीदों की चीखों से
न जाने कितने लेख लिख दिये मैंने ख्वाब में
तुम्हारी पांच दलीलों के जवाब में
बेरहम उनींदी रात ने मेरे बूढ़े जोड़ तोड़ दिए
आंखें करकराने लगीं। जी घुटने लगा।
बिस्तर छोड़कर मैं बाहर आया।

इतिहास सुना। परीक्षा की। उन्होंने कहा—'और विशेषज्ञों से पूछकर मैं बता दूंगा।'

डॉक्टर विद्याधर ने सब जांच करके कहा कि 'हम कोशिश करके देखेंगे। दर्शना शायद फिर से देखने लग जायेगी।'

यह 'शायद' सारे प्रयोगों के मूल में है। इसी शायद के भरोसे आदमी जिंदा है। शायर ने कहा है

शमआ इस उम्मीद पर ही रात भर रोती रही

कि शायद सुबह तक जिंदा मेरा परवाना हो जाये

मैंने भी बड़ी आशा लगाई थी कि वह दुनिया जो मेरे लिए एकदम अंधेरी हो गई थी, जिसमें सिवा काले ही काले के कुछ नहीं दीखता था, वह एकदम फिर प्रकाशित हो जायेगी तो कैसे लगेगा ?

क्या मैं फिर से वैसे ही देख सकूंगी, जैसे पहले देख सकती थी। साफ़-साफ़। या धीरे-धीरे धुंधलाते हुए यथार्थ दिखाई देगा।

पहले लगेगा जैसे किसी माया का आवरण फैला है। जैसे मैं किसी जालीदार पर्दे में से देख रही हूं। या भूरे अपारदर्शी कांच में से। या हो सकता हैं मेरे देखने और दिखाई देने वाली चीज के बीच में धुंए की हलकी-सी पर्त हो।

फिर कुछ देर बाद शायद लगेगा कि मैं सत्य नहीं देख रही थी। यह तो निरा स्वप्न था। मैं अपने मन के भीतर जो धारणा है उसी को सब चीजों पर थोपकर देख रही हूं। यह सत्य यथार्थ नहीं निरा आभास है। या मन का प्रक्षेपण। "मेंटल प्रोजेक्ट" मात्र।

पर यह न निरा आवरण है, न विक्षेप, यह तो अध्यास है। यानी एक चीज़ पर दूसरी चीज़ का झूठा अध्यारोप। जैसे चाँदनी रात में हम देख रहे हैं रस्सी, पर दिखाई दे साँप। हम देख रहे हैं सींप, पर दिखाई दे चांदी। यह एक तरह से शुद्ध मन का धोखा है। लेकिन 'अपने ही, मन ने उसे पैदा किया है। वह कहीं बाहर से नहीं आया है।

हम अपने जीवन में पता नहीं कितने-कितने इस तरह के भ्रम पालते रहते हैं। हम मानते हैं कि मनुष्य एकदम देवता है। या इससे उलटे हम मानकर चलते हैं कि मनुष्य एकदम पशु है।

अब इस सती-कांड को लेकर ही कितनी-कितनी बातें कही गईं। किसी ने कहा—"बेपढ़ी-लिखी औरतें ऐसी बेवकूफी करें तो ठीक हैं—पर यह स्त्री, उसका पति, उनके मां-बाप सब पढ़े-लिखे थे। उपाधिकारी थे। शिक्षक थे। बोलिये, अब आपको क्या कहना है ?

किसी ने कहा—उसे नशा दे दिया था।

किसी ने कहा—पति मिरगी का असाध्य रोगी था। वह जीवन से

निराश थी।

किसी ने कहा—उसके गहने हड़पने का सुसरालवालों का इरादा था। कितने किलो सोना इसमें जमा था। तोला का किलो बनते क्या देर लगती है। तिल का ताड़ इसे कहते हैं।

किसी ने कहा—वह विधवा की तरह बच भी जाती तो उसे कौन-सा भविष्य था?

और एक बोले—हमारी सांस्कृतिक परम्परा में दखल डालने वाली कौन होती है सरकार। राजस्थान में पचासों सती चौरे पूजे जाते हैं।

किसी ने कहा—एक समाजवादी अपने आपको कहने वाले संपादक ने ऐसे कैसे लिख दिया कि "रूपमती स्वेच्छा से सती हुई।"

दूसरे ने कहा—उसका घेराव करो ... पीटो उसको ऐसे नारा ... विरोधी कथन के लिए।

एक ने उसका पक्ष लिया—पर उस संपादक ने और भी तो लिखा है नारी के अधिकारों के हक में। इस एक वाक्य के आगे-पीछे के तर्क तो देखो।

कौन सुनता है? इलाहाबाद के एक कवि ने तो "अतएव" में एक पूरी कविता ही लिख दी। कविता बहुत अच्छी है। इसलिए हम उसके हिस्से यहां दे रहे हैं। कविता है 'मैं तुम्हें आवाज देता हूं,' और लेखक हैं उपेन्द्रनाथ 'अश्क'। उस कविता का दूसरा छंद यों शुरू होता है और पांचवें छंद तक वह यों चलती है:

(2)

"तुम्हारा अग्रलेख पढ़कर तिलमिला उठा
सारी रात दिमाग में लावा खौलता रहा
जाने क्या-क्या कहता रहा मैं तुम्हें अर्ध-निद्रा में
करवटें बदलता हुआ।
बूढ़ा घायल बघेला दहाड़ता रहा
मेरे दिमाग के सन्नाटे मे सारी रात
चांदनी का सीना छिलता रहा
ज़ख्मी परींदो की चीखों से
न जाने कितने लेख लिख दिये मैंने ख्वाब मे
तुम्हारी पांच दलीलों के जवाब मे
बेरहम उनींदी रात ने मेरे बूढ़े जोड़ तोड़ दि
आंखें करकराने लगी। जी घुटने लगा।
बिस्तर छोड़कर मैं बाहर आया।

विधवाओं की समस्या का यही समाधान है क्या
आज़ाद भारत के चिंतक-मनीषियों के पास
कि धर्म की अफीम पिलाकर
उन्हें ज़िंदा जला दिया जाय
चिताओं पर।
मैं तुम्हें पुकार रहा हूं,
क्या मेरी आवाज़ तुम्हें सुनाई देती है ?

(5)

मोमबत्ती की लौ पर ज़रा अंगुली रखकर तो देखो संपादक
शरीर का जीवित अंग कैसे तड़पता है।
और कल्पना करो
मोहवश या शोकवश
मिथ्या गौरववश या अंध श्रद्धावश
रूपकुंवर जब चिता में बैठी होगी
और तुम्हारे ही जैसे निर्मम और क्रूर लोगों ने
चिता जलाई होगी
उसका ज़िंदा शरीर कैसे तड़पा होगा
मैं तुम्हें आवाज देता हूं ओ नामी संपादक
क्या मेरी आवाज़ तुम्हें सुनाई देती है ?
कैसी विडंबना है
हमारे युवा नेता हमें इक्सवीं सदी में ले जाने की
बात करते हैं
और तुम हमें आठवीं सदी के अंधेरों में धकेल रहे हो।
क्या मेरी आवाज़ तुम्हें सुनाई देती है ?

जो बात रूपकुंअर की सती की है। वही बात अन्य किसी सामाजिक घटना की है। हम उससे दूर बैठकर छह अंधों की तरह एक ही हिस्सा पूरे हाथी का देखते हैं। और हम पूर्ण सत्य के एकाधिकारी अपने आपको मानते हैं।

मैं जितना ही अपने अंधेपन के बारे में सोचती जाती थी, उतनी ही मैं उलझती जाती थी। पर आज यह जानकर कि मुझे उस अंधेपन से निजात मिलेगी, मैं और भी उलझन में पड़ गई।

"सचमुच लोग विश्वास करेंगे कि मैं अंधी अब नहीं रही ?"

या समझेंगे कि मैंने नक़ली आंखों से देखने का बहाना किया है।

पर प्रत्यक्ष को, स्पर्श को, क्या कोई प्रमाण चाहिए ?

और फिर एक दिन मुझे डॉक्टर के पास ले ही गये। उन्होंने एक दिन और समय नियत कर दिया।

—दर्शना अंधी नहीं रहेगी।

—दर्शना फिर से दर्शक बन जायेगी।

—दर्शना केवल दृश्य नहीं रहेगी। वह अपने बाहर के दृश्य भी देखेगी। सिर्फ भीतर के काल्पनिक दृश्य नहीं।

—बाहर से भीतर प्रकाश आ सकेगा? भीतर का प्रकाश बाहर जा सकेगा। और उनसे एक रंग, एक ही ढंग का दृश्य न बनकर दो और तीन आयामों का दृश्य बनता जायेगा। दृश्यावलि बनेगी।

—दर्शना इसमें अर्थ खोजेगी।

सचमुच हम ज्ञान-विज्ञान के पश्चिम के कितने आभारी हैं। उसने हमें नई दृष्टि दी। गति दी। बिजली, रेल, विमान क्या-क्या नहीं दिये।

पर दूसरा मन कहता था—यह उसने अपने भले के लिए किया है। इस सबमें उसका स्वार्थ है। परोपकार के नाम पर वे अपना बाजार बढ़ाना चाहते हैं। अपना साम्राज्य। अपनी छवि।

वे कहना चाहते कि दुनिया में वे अधिक सभ्य और सुसंस्कृत हैं।

युद्ध-युद्ध तो कुछ पागल सिरफिरे यहाँ करा देते हैं। नहीं तो कितने शांति-प्रिय हैं वे लोग। सारे अन्तर्राष्ट्रीय शांति अभियान उन्होंने चलाये। वे न होते तो इतने "युद्धविराम मिशन" और "शांति-संधियाँ कहाँ होतीं?"

यह सब मैं सोच ही रही थी कि हमारे प्रोफेसर साहब आ गये। वे बहुत लम्बे अर्से तक विदेश रहे थे। परन्तु उनकी मान्यता थी कि विदेश की कोई चीज यहाँ नहीं चल सकती। हमें अपना ज्ञान-विज्ञान, अपना तन्त्र-तकनीक सब कुछ स्वयं निर्मित करना है। हमें आत्मनिर्भर होना है।

मैंने कहा—"देखिये प्रोफेसर साहब पश्चिम की वजह से हमें "आर्कियालोजी" (पुरातत्व), "एडल्ट एजुकेशन" (प्रौढ़ शिक्षा), "एडल्ट सफ़रेज" (प्रौढ़ मतदान), "अंटाइना" (वह बाहर से ध्वनियां और चित्रग्रहण करने वाला उपकरण) मिला। वे सचमुच हमारे उद्धारक हैं। उन्होंने हमें 'एकता' दी!

उत्तेजित होकर प्रोफेसर बोले—खाक एकता दी। खुद वे एक हैं क्या? बीसवीं सदी में पश्चिम ने हमें क्या दिया? सिर्फ चार 'ए'

"वे कौन-कौन से हैं?"

"आउशविट्ज़,' नाज़ियों ने लाखों यहूदियों को भोले-भाले निरीह निरपराध लोगों को सिर्फ वे यहूदी हैं इसलिए गैस-चेंबरों में भेज दिया, वह जघन्य स्थान!"

"और दूसरा?"

"एटम बम"

"और ?"

'अल्कोहोलिज्म—इसमें शराब में घुत्त होकर उसकी लत, और इसी तरह के नशे —'स्मैक' और क्या-क्या···'

"और ?"

"उन सबकी परिणति 'एड्स'—असाध्य रोग !"

"मैं चुप हो गयी।"

"क्या इसी आत्महत्या का नाम सभ्यता और प्रगति है ? यह आंखें रहने पर भी अंधों की तरह जीना है !"

जब उसे फिर से दिखाई देने लगा।

उससे आंख मिलाऊं ये मेरी ताक़त है !
देखता हूं कि वो पगली-सी नज़र है कि नहीं

—'जलील' मानिकपुरी

"और ?"

'अल्कोहोलिज्म—इसमें शराब में धुत्त होकर उसकी लत, और इसी तरह के नशे—'स्मैक' और क्या-क्या…'

"और ?"

"उन सबकी परिणति 'एड्स'—असाध्य रोग !"

"मैं चुप हो गयी।"

"क्या इसी आत्महत्या का नाम सभ्यता और प्रगति है ? यह आंखें रहने पर भी अंधों की तरह जीना है !"

जब उसे फिर से दिखाई देने लगा।

उससे आंख मिलाऊं ये मेरी ताक़त है !
देखता हूं कि वो अगली-सी नज़र है कि नहीं

'जलील' मानिकपुरी

ऑपरेशन सफल हो गया। और दर्शना को दृष्टि पुनः प्राप्त हो गई।

पहले यह माना जाता था कि अन्धी तो सदा के लिए अन्धी ही रहेगी। उसमें कोई सुधार नहीं हो सकता यानी, हजारों वर्षों के अन्धे संस्कारों से पीड़ित स्त्री फिर देवशाला की ओर आपसे आप अपने कदम मोड़ लेगी—सतीत्व की महानता के जादू से प्रकाश-वलय सहित वह सावित्री और सीता न यम से प्रश्न पूछेगी, न राम से। अग्नि परीक्षा देती जायेगी। क्षार-क्षार होती जायेगी, तिल-तिल पल-पल मधुर-मधुर दीपक की तरह जलती रहेगी। अपने को वह शापमय पर ही मानती रहेगी।

नहीं—दर्शना ने सोचा कि यह जीवन कोई जीवन नहीं। अंधेरे से लड़ने के साधन अब हमें विधना ने दिए हैं।

परंतु इस आंख के प्रत्यारोपण में एक नई समस्या उद्भूत हो गई। उसी की कहानी सुना रही हूं। मैं सोचती थी कि आंख की पुतली काफ़ी है। पर नहीं, उस पुतली से और भी प्रश्न जुड़े होते हैं। आंख केवल शरीर का एक अंग नहीं। उसका मन से भी गहरा संबंध होता है। यह प्रत्यारोपण किसकी पुतली का हुआ है—यह भी एक और सवाल है।

उसे पता ही नहीं लगा कि यह नई आंखें उसके लिए और एक मुसीबत का बायस बन जायेंगी।

हुआ यह कि नई आंखें पाकर वह गर्मी से बचने के लिए अपने एक सुपरिचित मित्र के कहने पर पहाड़ पर गई। वहीं पहुंचते ही उसने देखा कि इस मित्र का रुख ही बदल गया है।

जब वह देख नहीं पाती थी तो वह इतना स्नेह और सहानुभूति देता था। उसका हाथ पकड़कर कहीं ले जाना, सीढ़ियां चढ़ाना, आसपास के सारे दृश्य को समझाना यह सब उसका स्वभाव था।

पर अब ?

अब वह गुमसुम हो गया। जैसे उससे कतराने लगा। उसकी आंख से आंख मिलाना वह नहीं चाहता था।

यह ऐसा क्यों हो गया?

यह नवयुवक जिसे 'मित्र' ही कहना ठीक होगा, हरसाल पहाड़ों पर जाता था। प्रकृति का एकांत उसे बहुत प्रिय था। वह चित्र बनाता। कविताएं लिखता। दूर-दूर तक लंबी जंगल की पगडंडियों पर अकेले सैर करने जाता। झरनों का संगीत सुनता। पक्षियों और फूलों के बारे में उसकी जानकारी अद्भुत थी।

पर वह बेहद अकेला था।

बचपन से बेहद दब्बू और झेंपू किस्म का यह मित्र अपने ही अंदर बंद आदमी था। पश्चिम की व्यक्ति-स्वतंत्रता की किताबें पढ़-पढ़कर वह यह मानने लगा था कि मनुष्य के मन का तन से कोई संबंध नहीं। कुछ भी खाये, कुछ भी पिये। कैसे भी रहे, क्या बिगड़ता है?

वह अपने आपको बड़ा बौद्धिक समझता। नास्तिक था और हर भौतिक कार्य का भौतिक कारण ही मानता था।

जवानी में युद्ध के मोर्चे पर हो आया था। उसके रहन-सहन पर सिपाहियों के अनुशासन का नहीं, बल्कि सैनिक अफसर की स्वच्छंदता का प्रभाव था।

युद्ध के मोर्चे पर वह पूर्वोत्तर कमान में रहा था। और उधर की आदिवासी और काफी मुक्त स्त्रियों के संपर्क में आया था। अब सहसा क्या हो गया?

उसने सिर्फ पूछा—"ये आंखें तुमने कहां से पाईं?"

"डॉक्टर जाने—वे 'आई-बैंक' से लाये थे।"

"आई-बैंक?"

"हां, मरने से पहले कई लोग अपनी आंखें दान में देते हैं। और वे अमुक एक अवधि के भीतर, मृत शरीर जलाने या दफनाने से पहले निकाल ली जाती हैं और सुरक्षित रखी जाती हैं। वे ही फिर जिंदा आदमी के काम आती हैं।"

परन्तु वही मित्र अमित्र क्यों बन गया यह सब मैं आपको अपने मुंह से नहीं बता दूंगी। यह मेरी शिमला की डायरी पढ़ लीजिये। सप्ताह के सप्ताह मैं लिखती जाती थी।

शिमला, 7 अप्रैल

मैं शिमला आ तो गई हूं पर देखती हूं कि कालका से ही कितनी भीड़, यहां आने वाले सैलानियों की, ट्रेन में हो गई है। किसिम-किसिम के लोग हैं। मैदान की गर्मी से, झुलसन से, भागने वाले लोग। स्कूल कालेज की छुट्टी होते ही पहाड़ पर निकल पड़ने वाले किशोर-किशोरी। दफ्तरों से छुट्टी लेकर आने वाले बंगाली, सपरिवार, ससामान। दूर-दूर से आये विदेशी लोग—कुल्लू मनाली में जायेंगे,

पहाड़ी लोक नृत्य, लोकोत्सव, लोकसंगीत का मजा लेंगे।

मैंने पहले से व्यवस्था कर ली थी। वहाँ शिमला में एक राष्ट्रपति-निवास के पास हिमाचल युनिवर्सिटी है। उसमें मेरी एक पहचान की महिला लेक्चरर थी, जो अकेली ही रहती थी। उसके यहां मैं रहने लगी।

पहली चीज जो शिमला में मुझे सबसे ज्यादा अखरी वह थी वहां की बेहद गरीबी। अंग्रेजों के जमाने में कलकत्ता राजधानी थी, तो बंगाल की उमस से घबड़ाकर सब गर्मी में शिमले को राजधानी बनाते। वहां उन्होंने एक छोटा-सा इंग्लैंड बना दिया था। वहीं से 'नेटिव' कुली बुलाये गये। और मालिक और नौकर का रिश्ता कानूनी बन गया। पौन सदी तक यही आलम था कि माल पर सिवा साहब बहादुरों के 'काला आदमी' घूमने नहीं आ सकता था। माफ हुआ भी अंग्रेज बहादुर की मनमौजी थी। 'एक्सक्लूसिव' (सिर्फ गोरों के लिए) क्लब, होटल, स्टोअर—यहां तक कि अखबार भी 'सिविल एंड मिलिटरी गैजेट' रडयार्ड किपलिंग जैसे कवि यहां से पैदा हुए।

यह मनुष्य की कितनी बड़ी विडंबना है कि एक ओर इतना अद्भुत प्राकृतिक सौंदर्य—हिमालय की शुभ्र-धवल चोटियों और घने जंगलों के बीच इतनी गरीबी। इतनी मुफलिसी। इतना अभाव। क्या यह सब मनुष्य-निर्मित नहीं है।

ऊपर का बाजार नीचे का बाजार और मंझला बाजार—मानो समाज को तीन हिस्सों में काटकर रख दिया हो।

सारी सफाई, सारे फैशन, सारी चकाचौंध, चारुचित्र, बौद्धिक चमक-दमक, शिक्षा, संस्कृति, ऊंची-ऊंची बातें सिर्फ ऊपर के हिस्से की एकाधिकार और नीचे सब कुछ जैसे अंधेरा, जाहिल, अविकसित, अपरिवर्तित!

कुली से बात करके देखो। वह अपने आपको आदमी मानने को तैयार नहीं। बोला—हम तो कश्मीर से भागकर आये हैं। गर्मी में कुछ कमा लेंगे। एक कोठरी में पड़े रहते हैं कई लोग इकट्ठे। ठेकेदार ही हमारी आमदनी छीन लेता है। वही चावल देता है, सामान देता है।

हमने पूछा—"तुम लोग मिलकर कुछ लड़ाई क्यों नहीं लड़ते?"

"वह हो नहीं सकता।"

"क्यों?"

"कुली सब जगह के हैं। कोई यहां के हैं, कोई दूर के हैं। सब पहाड़ के नहीं हैं। हम बाहर वाले हैं।"

"तो क्या हुआ?"

"हम मुसलमान हैं।"

"तो क्या हुआ? इन्सान तो हो।"

"नहीं, नहीं ये बाबू लोग जो मैदान से आते हैं, वे अपने आपको लाट साहब

समझते हैं।"

एक बूढ़ा आदमी धीरे-से बोला।

"जोरों से मत बोलो बीबीजी, ये हमको मार डालेंगे। हमें मजदूरी नहीं मिलेगी तो पेट कैसे पलेगा। चलो भाई, इनके चक्कर में मत पड़ो।"

और वे चले गए।

इन गरीबों में गंदगी थी। उससे भी ज्यादह बेरोजगारी का डर था। उन्हें एक वक्त किसी तरह पेट भरने को चावल मिल जाता था और उसी पर वे कड़ी मशक्कत करते। टट्टुओं की तरह भारी माल सिर को पट्टी बांध, कंधों पर, सिर पर उठाकर ले जाते। मर्द और औरतें बराबर काम करतीं तब कहीं बच्चों का भरण-पोषण होता।

युनिवर्सिटी के और शिमला के और तथाकथित बौद्धिकों से हमने पूछा—'इन कुलियों पर किसी ने शोध किया है ?"

जवाब मिला—'नहीं, वह हमारा विषय नहीं। अर्थशास्त्र में शायद हो।".

अर्थशास्त्र वालों से पूछा। वे बोले—"यह समाजशास्त्र का विषय है।"

समाजशास्त्र के ज्ञाता बोले—"यह नृवंशशास्त्र का विषय है।"

पता लगा कि यह शास्त्र वहां हिमाचल, गढ़वाल, उत्तराखंड आदि कई पहाड़ी युनिवर्सिटियों में पढ़ाया ही नहीं जाता था।

एक युवती ने कहा—"पहाड़ी लोकगीतों पर मैंने पी० एच० डी० ली है।"

"ये लोकगीत आपने पहाड़ में घूम-घूमकर इकट्ठा किये हैं ?"

"नहीं जी, औरों की किताबों और रेडियो के देहाती कार्यक्रमों से सुन-सुनकर मुझे चाहिए उतनी बातें मिल गईं।"

"खोज आपने क्या की ?"

"नहीं इन गीतों के गाने वालों का भूगोल-इतिहास, कठिन जीवन का चित्र दे दिया। फिर उन गीतों को हमने जन्म से मृत्यु तक के संस्कारों में बांट दिया। जैसे शादी के गीत, बच्चा होने के गीत, होली-दीवाली त्योहारों के गीत। धान की बुवाई-कटाई के गीत। सावन-चौमासे के गीत, सियाले के गीत। विरह के गीत। और फिर एक अध्याय उन गीतों की भाषा पर लिख दिया। हां अंत में इन गीतों में अलंकार और रस पर जरूर एक चैप्टर लिखना पड़ा। सुना परीक्षक काव्यशास्त्र वाले थे।"

"परीक्षक कौन थे ?"

परीक्षकों को पहाड़ी बोली नहीं आती थी। एक संस्कृत के पंडित थे। दूसरे मार्क्सवाद के। बस काम हो गया। गीतों में गरीबी की विस्तृत चर्चा थी। महाजन, जमींदार को कोसा गया था। मार्क्सवादी खुश हो गये। गीतों में प्रोषित्पतिका नायिका और विप्रलंभ शृंगार की आलंबन-उद्दीपन सहित चर्चा थी,

संस्कृत रसशास्त्री खुश। हमें डिग्री मिल गई। नौकरी मिल गई। न थीसिस छपी। न बाद में हमने 'लोकगीत' का नाम ही लिया। वह विषय यहां हिन्दी कोर्स में है ही नहीं।"

"बहुत अच्छा।"

बौद्धिक अधिकतर बाहर से आकर यहां आन जुटे थे। उनका वहां के लोगों से, उनकी समस्याओं से बहुत कम संबंध था। वे ऊंची-ऊंची राष्ट्रीय एकात्मता की, भारतीय संस्कृति की गौरवगाथा की, ऐतिह्य की महानता की बात कर सकते थे। उनसे विदेश के सब विद्वानों की नवीनतम खोजों के बारे में पता था। पर भारतीय भाषाओं से उनका सरोकार नहीं के बराबर था। एक बड़ा खर्चीला उच्च अध्ययन संस्थान वहां बना हुआ है। उसने अपने सारे अस्तित्व में इतने पच्चीस बरस से ऊपर के अस्तित्व में एक अक्षर भी सिवा अंग्रेजी के न प्रकाशित किया, न उससे उन्हें कोई मतलब है। वहां के ग्रंथालय में कितने महंगे विदेशी अखबार, मासिक, शोध-पत्रिकाएं आती हैं। सब अंग्रेजी में ही किताबें हैं। वायसराय के जमाने का ही अदबो-आदाब, खान-पान और बहंगी खानसामे सब हैं।

यहां की सब संगोष्ठियां, पत्र वाचन, विचार-विनिमय अंग्रेजी में ही होता है, गोया उन्हें सुनने के लिए इंग्लैंड और अमेरिका, कनाडा और आस्ट्रेलिया कान लगाकर बैठे हैं।

और कुछ नहीं हो तो उन देशों में व्याख्यान देने के लिए जाने, यात्राएं करने आदि, आमंत्रण पाने की सुविधा और 'मवाके' तो मौजूद रहते ही हैं।

शिमला, 14 अप्रैल

मैं यहां के तथाकथित स्वयं बौद्धिकों की पश्चिम-परस्ती से ऊब गई और प्रकृति के मनोरम स्थानों और वहां के जन-साधारण में अधिक रुचि लेने लगी।

यहीं से पास में कुफरी थी। तारा देवी थी, सोलन था, जाखू था, कई सुन्दर वृक्षों से भरे स्थानों में मैं जाने लगी। एक बार मैं शिव-पार्वती शिखर भी देख आई।

यह अवश्य देवी स्थान रहा होगा। श्यामला या श्यामा से शिमला बना। सारे पहाड़ में इसीलिए देवीवाचक अनेक स्थान हैं—तारा, चंडी, देवी, दुर्गा, कालिका जैसे नाम बिखरे पड़े हैं। शाक्तों का यह बड़ा गढ़ रहा होगा। ज्वालामाई तक हिमालय में जगह-जगह पार्वती के पद-चिह्न पड़े हुए हैं। उमा, अपर्णा, सती, शिव-प्रिया··· कितने-कितने नाम संस्कृत में भरे पड़े थे, पर पहाड़ी में कई तरह के नाम हैं इस मूलतः किरातिन पहाड़िन कन्या के।

पहाड़ों में पुरुषों से ज्यादह स्त्रियों का ही राज है। वे ही सब जगह काम

करती हैं। घर में और बाहर भी। पुरुष तो बड़े आलसी और निकम्मे दिन भर बीड़ी और शाम हुई कि ताड़ी पीते सोते रहते हैं। या गप्पें मारते बैठते हैं। बिल्कुल गोबर-गनेस हैं वे। पर अपने आपको तीसमारखां और बड़े बहादुरशाह समझते हैं।

ऐसे ही खोज-खोज में एक दिन मुझे पता चला कि जौनसार बावा में जैसे होता था, एक ही स्त्री के अनेक पुरुष पति होते थे। यहां यह बुरा नहीं माना जाता था, कुछ जातियों में।

क्या इस तरह के समाजों में एक पत्नीव्रत या एक पतिव्रत का मतलब कुछ और नहीं हो जाता?

इसी कारण से मुझे उस दिन उस तिब्बती की कहानी सुनकर आश्चर्य नहीं हुआ।

तिब्बत में दलाई लामा के साथ भागकर आये हुए हजारों-लाखों भोट नेपाल की तराई से लगाकर पहाड़ों के अंचल में बस गये हैं। सर्दियों में ऊनी कपड़े, शालें लेकर वे मैदान की ओर उतर आते हैं। सारे शहरों-कस्बों में वे देखे जा सकते हैं। वे अधिकतर बौद्ध हैं। तिब्बती लामा धर्म मानने वाले।

वह कह रहा था कि हमारे समाज में पति या पत्नी के भाग जाने का कोई डर नहीं।"

"क्यों?"

"मरद और औरत एक-दूसरे के चौकीदार थोड़े ही हैं।"

"तो उसे बुरा नहीं लगता कि उस लड़की का पति भाग गया।"

"वह दूसरा कर लेती है।"

"तो फिर तुम्हारे यहां कोई किसी के लिए सती नहीं होता होगा।"

"सती क्या होता है?"

"पति मर जाये तो पत्नी उसकी चिता में उसी के साथ जल जाती है।"

वह हंसने लगा—"यह मूर्खता है। भगवान ने यह शरीर यों जला देने के लिए थोड़े ही दिया है।

मैंने कहा—"वह बहुत बड़ा त्याग करती है।"

"त्याग क्या होता है?"

"अपनी प्रिय चीज़ भेंट में दे देना।"

"तो भेंट में देना हो तो भगवान बुद्ध को दे। अपने देश के लिए मरे। पति कोई ऐसी चीज है जो इनसे भी बड़ी हो।"

उसके तर्क के आगे मैं निरुत्तर हो गई।

शिमला, 21 अप्रैल

गरीबी में काम करते हुए तिब्बती भोट और कश्मीर-लद्दाख में आये हुए कुली, और नेपाली-नेवारी औरतों के बारे में पता लगा कि वे घर-घर में मज-दूरी, बर्तन साफ करने, पोंछा देने, कपड़े धोने, बच्चों को संभालने का काम भी करती हैं।

एक ऐसी ही तिब्बती लड़की हमारे इस मित्र साहब के घर में काम करती थी। बड़ी ही सुशील, विनम्र, सेवाभावी स्त्री थी।

हमारे मित्र ने उसके साथ प्रेम-सम्बन्ध स्थापित कर लिया।

इसका नतीजा यह होना चाहिए कि मित्र को उसके साथ ब्याह करना चाहिए था। पर नहीं, वह मित्र डरपोक था। उसके बीवी-बच्चे, परिवार कहीं दूर, देश में था। उसने एक दिन उसे बदनाम करके निकाल दिया। हुआ यह कि वह स्त्री कुछ साहसिक थी। और उसने सरे-आम इन बौद्धिक मित्र का अपमान कर दिया। और सबको बतला दिया कि यह भला आदमी समाज में सफेदपोश बनके घूमता है। पर मेरा उपयोग करना चाहता है। पैसे देकर बात टाल देना चाहता है।

उसने यह भी कहा कि इस औरत के बहुत विनय-अनुनय पर भी यह नहीं माना।

आखिर एक दिन इस स्त्री ने दुर्गा का रूप धारण किया। वह जबरदस्ती करने गया तो इस स्त्री ने उसे मारने की धमकी दी। सब्जी काटने का तीखी धारवाला छुरा ही उसने उठा लिया। इस पर हाथापाई हुई और तिब्बती स्त्री को घर से निकल जाना पड़ा।

बाद में उसका क्या हुआ। पता नहीं। पर आसपास के लोग बताते थे कि इस मित्र महोदय को उस तिब्बती स्त्री की आंखों में डर लगने लगा। रात-दिन वह अकेले में होता तो उसे लगता कि दो आंखें उसका पीछा कर रही हैं। उन आंखों से ज्वालाएं निकल रही हैं।

रात को सपने में देखता कि उन दो आंखों से जहरीले सांप लपलपाती जीभों से, सरसराते हुए उसके पास आ रहे हैं। हो सकता है यह उसका अपना पाप ही हो। हो सकता है उसे यह विश्वास हो गया था कि यह स्त्री जादूगरनी है। और उसे नष्ट करने पर वह तुली हुई है।

जितना वह उसे भुलाने की कोशिश करता, उतना ही वह उससे डरने लगा था।

एक दिन मित्र ने डरते-डरते दर्शना से पूछ ही लिया—"यह आंखें तुम्हें कहां से मिली?"

"आइ बैंक से।"

"कौन से आई बैंक से ?"

"मैंने नाम और पता बता दिया। सहज भोले भाव से"

मित्र कुछ बोला नहीं। उस दिन से उसने बात करना छोड़ दिया। मेरे यहां आना-जाना भी उसने बंद कर दिया।

जिस आई बैंक की बात थी वह तिब्बती कैंप के निकट की थी। और यह पता लगा कि जो तिब्बती लड़की जिससे मित्र को प्रेम हो गया था, पर जिसके साथ वह आजीवन रह नहीं सकता था। वहां मरने के बाद आंखें देने के लिए लाई गई थी। यह उसी की आंखें थीं!

हे भगवान! मेरे चेहरे पर यह कौन से दो अभिशाप तुमने दे दिये। इन्होंने अपने पहले जीवन में क्या-क्या नहीं देखा होगा? सुदूर तिब्बत से बचपन में मां-बाप का निष्कासन। घोर गरीबी। उत्पीड़न। घर-घर मजूरी करते हुए प्रताड़नाएं। चोरी के आरोप। मारपीट। क्या-क्या नहीं सहा होगा। और सबसे अधिक पुरुष के अन्याय की पराकाष्ठा—उसके शरीर पर इस "बाबू" का इस तरह जबरन अधिकार। पैसे के लिए, झूठे आश्वासनों पर वह सब सहन करती रही, जो एक स्त्री को नहीं सहना चाहिए। अनिच्छा से वह सब करती रही, जो नहीं करना चाहिए।

और आज उन्हीं आंखों को मेरी भौंहों के नीचे, मेरी नाक के दोनों तरफ, मेरे गालों के ऊपर प्रतिष्ठा का स्थान मिल गया है। मैं कुछ कर भी नहीं सकती।

12

शिमला, 28 अप्रैल

मेरा मन बहुत बेचैन हो जाता तो मैं किताबें पढ़ने में मन लगाती। मैं प्राचीन भारत में स्त्रियों और शूद्रों की गुलामी पर पढ़ रही थी। कैसे धर्म के नाम पर इन स्त्रियों को अपने बस में कर लिया पुरुष शास्त्रकारों ने।

हम संस्कृत ग्रंथ पढ़ते हैं और उन्हें या तो साहित्य समझकर सब कुछ उदात्त मान लेते हैं। या श्रद्धा से हर चीज का खास मतलब निकाल लेते हैं। पर उसमें भी कितना घालमेल है, कितना बाद में जोड़ दिया है, पुरोहितों-पंडों-पुजारियों ने अपने मतलब के लिए यह नहीं देखते। सारे पुराण ऐसी कपोलकल्पित कहानियों से भरे हैं। ऊपर से ये स्त्री को देवी और चमत्कारी शक्ति बताती हैं। परंतु

उसके पीछे पुरुष स्वार्थ भरा हुआ है।

मैं जितना पढ़ती गई उतना ही मुझे आश्चर्य होता गया। मैं अपनी डायरी में ये बातें इसलिए नोट कर रही हूं कि जो भी पढ़ेगा उसे समझ में आयेगा कि हम भारत में कैसे दोहरे मापदंडों से पुरुष और स्त्री को देखते हैं।

अंबिका को आर्यों की देवी माना जाता है। यजुर्वेद और वाजसनेयी संहिता में अंबा कहीं रुद्र की बहिन और कहीं मां भी बताई गई है। यम-यमी संवाद से पता लगता है कि तब बहिन के साथ विवाह कुछ प्रजातियों में वैध था शाक्त पंथ की देवी दुर्गा या वेद की पृथ्वी समान दिखाई देती हैं फिर भी लगता है कि मातृ-पूजा वेद पूर्व की भारतीय आदिम धारणा रही होगी। मोएँ-जो-दड़ों में मां की मूर्ति मिलती है।

दागिस्तान से शक लोग हिंदुस्तान में आये। अपने साथ वे ये 'दागिनी', 'डाकिनी' भी ले आये। बेबिलोन से दक्षिण भारत तक शेर की सवारी करने वाली या सिंहवाहिनी यह पर्वतवासिनी 'लो-मां', ओमा पूजी जाती थी। तैत्तरीय और केन उपनिषद में रुद्र पत्नी उमा मानी जाती है।

दुर्गा का जन्म मेरु पर्वत के पास एक सरोवर में हुआ। यानी यह देवी मध्य एशिया की रही होगी। अशोक के एक शिलालेख में यह दुःख प्रकट किया गया है कि उसके जमाने की स्त्रियां आलतू-फालतू देवियों की पूजा करती हैं।

चौथी शती के करीब हिमालय की दुर्गा और विंध्याचल की विंध्यवासिनी बड़ी लड़ाकू स्त्रियां या वीरांगनाएं मानी जाने लगीं। युद्ध के लिए अनुकूल वसंत और शिशिर में इनकी पूजा का विधान था। गुप्त राजवंश के एक चंद्रगुप्तकालीन सिक्के से पता लगता है कि दुर्गा लोकप्रिय थी।

अब इस लोकप्रचलित देवी को शैव और वैष्णव दोनों धर्मग्रंथकारों ने अपनी दैवतमाला में खींच लिया। तैत्तिरीय आरण्यक में दुर्गा शिव-पत्नी बनी और अंबिका को उसीका एक रूप माना गया। महाभारत के वनपर्व में यशोदा-नंद की कन्या और वासुदेव की बहिन उस दुर्गा को माना गया। और वैष्णवों में भी यह आ गई। दुर्गा सप्तशती और चंडी माहात्म्य रचे गये। मार्कण्डेय पुराण में उसे ले लिया गया। यह डेढ़ हजार बरस से पुरानी बात है। देवी पुराण 600 ईस्वी के करीब का है। बंगाल में यह रचा गया। रघुनंदन ने लिखा—"दुष्प्राप्ये कालिका-पुराणे"—कालिकापुराण में तंत्र-मंत्र का बहुत बड़ा हिस्सा है। कामाख्य में महा-भागवत पुराण रचा गया।

अब शैव कहने लगे उमा शिवकी "माया" है।

वैष्णव कहने लगे विंध्यवासिनी विष्णु की "योगनिद्रा" है।

शैव और वैष्णवों में सदियों तक स्पर्द्धा चलती रही। एक दूसरे से बढ़-चढ़कर वे अपनी-अपनी देवता-देवियों की शक्ति बखानने लगे। कामरूप प्रदेश के नरक-

वंश के राजा कापालिक शैव थे। उन्होंने मैथिल ब्राह्मणों को उदार आश्रय दिया।

मैथिली ब्राह्मण पद्मपुराण में शिकायत करते हैं कि दक्षिणा वसूलने के लिए पार्वतीय ब्राह्मण कुछ भी कर सकते हैं। मैथिली ब्राह्मण अभक्ष्य भक्षण करते थे। इसलिए उन्हें श्राद्ध भोजन को अपात्र कहा गया।

अब शैवों में भी कई उपपंथ बन गये—कापालिक, भैरव, कौल, तप्तमुद्रांकित, वामाचारी आदि। देवी संबंधी कई उपपुराण रचे गये। देवी भागवत उन्हीं में से एक है। 1300 ईस्वी के करीब रचे इस पुराण में देवी विश्व की आदि शक्ति है। वेद का गायत्री मंत्र भी उसी के लिए है यह कहा गया। बृहद्धर्म पुराण में शैव-वैष्णव समन्वय किया है। यहां "सती मां" मूल प्रकृति को हर स्त्री के गर्भ में अवतरित बताया गया। भविष्योत्तर पुराण में धीरे-धीरे देवी पूजा के लिए स्त्री, वैश्य शूद्र, म्लेच्छ, अंग, वंग, कलिंग, किन्नर, बर्बर, शक सबको अनुमति दे दी।

वैश्ये : शूद्रैर्भक्ति युक्तैर्म्लेच्छैदन्यश्चा मानवैः।
स्त्रीमिश्र कुरु शार्दूल तद्विधानमिदंश्रयु ॥
एवं नाना म्लेच्छगणैः पूज्यते सर्वं दस्युभिः।
अंगवंगकालिंगैश्चा किन्नरैः बर्बरैः शकैः ॥

अब पुरोहितों ने अपने-अपने यजमान देखकर दुर्गा की सात्विक, राजसी, तामसी पूजाएं भी निर्धारित कर दीं। शाकाहारी पूजा सात्विक थी। राजसी में पशु बलि आ गयी। तामसी में मांस के साथ मदिरा भी शामिल कर दी गई।

पशुबलि का पूरा शास्त्र बना दिया। हेमाद्रि पंडित ने यहां तक लिख दिया कि हिंसा में कोई पाप नहीं है। हिंसक उपासक और हिंसा में बलि दिये जाने वाले पशु दोनों ही स्वर्ग लोक में पहुंच जाते हैं।

छोटे प्राणी की बलि से छोटा प्रसाद या छोटी कृपा। बड़े प्राणी की बलि से बड़ा अनुग्रह यह गणित यहां तक पहुंचा कि नर-बलि भी धर्म सम्मत मानी जाने लगी। चीनी यात्री युआनच्वांग लिखता है कि अयोध्या जाते हुए गंगा नदी में उसे दुर्गा भक्त मल्लाहों ने पकड़ लिया और उसकी नर बलि देने वाले थे। इतने में जोरों से आंधी आ गयी और सातवीं सदी का यह बौद्ध प्रवासी अपना यात्रावृत्तांत लिखने के लिए जीवित बच निकला!

विजयनगर साम्राज्य में जिन अपराधियों को देहांत सजा दी जाती थी, उनको बलि चढ़ा दिया जाता। अबं दुब्वा नामक दूसरे यात्री ने ठग और पिंडारी लोग किस तरह से देवी के आगे नर-बलि देते थे यह सब लिखा है।

फाहियान, युआन च्वांग, ईत्सिंग जैसे चीनी यात्रियों के पांचवी से सातवीं सदी तक के यात्रा वर्णनों में 'तंत्र' का कहीं उल्लेख नहीं है। ये सब बाद में पनपे। तंत्र की पहली किताब "कुब्जिकायत" 600-700 ईस्वी के करीब लिखी गई।

तंत्रों में धीरे-धीरे स्त्री को मक्खी या "माध्यम बनाकर इस्तेमाल की चीज बना दिया। चतुर पुरोहितों ने इसमें गुरु-पत्नी को अपवाद माना। और उसके साथ कोई भी अनाचार महापातक माना।

"उमा" देवी की लोकप्रियता देखकर 'मंजुश्रीकल्प' में बौद्धों ने वैसी ही चमत्कारी 'तारा' और 'प्रज्ञा पारमिता' की कल्पना की। महायान में बुद्ध की मूर्ति के साथ यह नयी "देवी" आ गई। हिन्दू और बौद्ध दोनों अनुयायियों में स्त्री को ऐसी जादूगरनी बनाने में होड़ सी लग गई। हिंदू तांत्रिक वीरों के लिए वह "काया, वाक्, चित्त" की स्वामिनी बनी, तो बौद्धों की विवज्र !

स्त्री को एक ओर तो "देवी" और "परम शक्ति" माना और दूसरी ओर "नारी नरक की खान"—यह दो अतिवादी दृष्टियां सब जगह दिखाई देती है। इसीलिए तंत्रों को गुह्य या गुप्त रखा गया। धीरे-धीरे स्त्री पर सब तरह के बंधन लगाये जाने लगे। बाल विधवाओं के साथ सबसे अधिक अन्याय किया गया।

वैशाली जनपद के लोग 725 ईसा पूर्व में कही सती होती थी ऐसा एक उल्लेख मिलता है। पर महावीर या बुद्ध के समय में कही भी सती का नामोल्लेख नही है। न रामायण मे न महाभारत में। केवल पंडु की पत्नी माद्री सती हो गई थी ऐसा एक ही उल्लेख है। वह बाद का भी हो सकता है। महाभारत में बहुत से श्लोक बाद में जोड़े गये 'प्रक्षिप्त' हैं।

डीईडीरस नाम का यूनानी इतिहासकार लिखता है कि सिकंदर के सेनापति ने पंजाब में 'कट' नामक जाति में "सती" होने की एक घटना अपनी आखों से देखी। सेनापति ने यह तर्क किया कि राजाओं की अनेक रानियां थी। वे आपस में लड़ती थी। तो कही ये विधवाएं फिर अपने नये पतियों को विष देकर न मार डालें इसलिए उन्हें राजा के साथ ही आग में झोंक देने का यह विधान रहा होगा। इस डर के मारे ये रानियां अपने पति को जल्दी मरने नही देती थी। उसकी बड़ी संभाल रखती। स्त्रावो नामक यूनानी इतिहासकार सती की कहानी सिर्फ सुनी-सुनायी बताता है। आखों से उसने भी नही देखी।

गुप्त साम्राज्य में कोई उल्लेख सती का नही। कोई शिल्प भी इसका उदाहरण नहीं। उसके नारद और पाराशर स्मृति में विधवा विवाह की अनुमति थी। चंद्रगुप्त द्वितीय ने रामगुप्त की विधवा यानी अपनी भाभी से ही परिणय किया यह साक्ष्य है।

फिर यह सती प्रथा आयी कब ?

मध्ययुग में राजपूतों में जौहर होने लगा वह धर्मांतर के डर से। या शत्रु इन स्त्रियों को भगाकर ले जायें या उनके साथ बलात्कार न करें इसी डरसे शायद यह प्रथा चली।

मध्ययुग में ही स्त्री निंदा संतो ने शुरु की। बुद्ध भी अपने संघ में स्त्रियों को

आने की अनुमति देने में शुरू-शुरू में शंकित-चित्त थे। किसा गोतमी से वे ऐसा ही कहते हैं।

रामायण-महाभारत में स्त्री की निंदा का काम और ज़ोरों से शुरू हुआ। वे "विमुक्त धर्मा" हैं। वे "क्षुरधारा", "सर्पविष" और "वह्नि" का संमिश्रण हैं, इत्यादि-इत्यादि।

अब इसके आगे की कहानी सब जानते हैं। सामंतों ने सती प्रथा को प्रोत्साहन दिया। मराठा, राजपूत आदि सामंतवर्ग के लोगों ने, जो एक से अधिक विवाह करना बड़ी मर्दानगी का लक्षण समझते थे। और फिर उन्हें मार डालना भी शायद इसी तरह की सवाया "मर्दानगी" थी। गोया स्त्री न होकर एक "जिंस" थी जिसपर उसी एक "वीर" (!) का एकाधिकार था।

यह भारत की स्त्री-पूजा और स्त्री-विडम्बना का एक साथ भयानक चित्र मुझे उद्वेलित करता रहा। क्या बहुत अधिक प्रेम बहुत अधिक तिरस्कार का ही दूसरा रूप है। ये दोनों भावनाएं एक ही तवे के चट्टे-बट्टे हैं। एक ही ढाल के दो बाजू नहीं हैं ?

शिमला, 5 मई

पहाड़ में औरत के साथ अत्याचार देख-देखकर मैं तंग आ गई थी।

ये मेरी आंखें जो किसी तिब्बतिन की थीं, जो अभागिन मर गई—और मेरे लिए अपनी अंतिम पुरुष-तिरस्कार की ज्वलन्त दृष्टि छोड़ गई—आज मेरे लिए एक साथ एक अभिशाप और एक वरदान बन गईं।

एक प्रोफेसर आये और मुझसे बहस करने लगे—"क्या आपने स्त्री की मुक्ति की बात चला रखी है ? यह पश्चिम का अंधानुकरण है। अमेरिका में अब फिर से, लौटकर पुराने मूल्यों की ओर जा रहे हैं। स्त्री अपना स्त्रीत्व खोकर 'फीमेल युनक' (बृहन्नला) बन जायेगी। न वह स्त्री रहेगी न पुरुष !"

मैंने कहा—"स्त्री चाहे जो हो जाये। पुरुष तो पुरुष ही रहेंगे न। यह अंध पुरुष श्रेष्ठता (शॉविनिज़्म) है।"

वे बोले—"अंधी तो आप हैं। हर जगह आपको स्त्री पर अत्याचार ही दिखाई देता है। क्या आप चाहती हैं कि स्त्री और पुरुष दोनों साथ-साथ नहीं रहें। सारी सृष्टि नारद-मोह की तरह 'खल्विदम् अबलामयम्' हो जाये।"

मैं—"बहुत हो चुकी ये बातें। इनमें आपकी अहं-ग्रंथि ही बोल रही है।"

वे—"आप अपने आपको हीन मानती क्यों हैं।"

मैं—"कोई उदाहरण दीजिए जब आपने स्त्री की महत्ता को माना हो"

वे—"क्यों इन्दिरा गांधी का कार्यकाल क्या था ?"

मैं—"इन्दिराजी तो अपने आपको इस तरह नहीं सोचती थीं। वे अपने को

'व्यक्ति' मानती थी—यानी पुत्र, पुत्री, पत्नी, माता इन विशेषणों से ऊपर एक देश के लिए समर्पित सेवक मात्र।"

वे—"यह गलत बात है। इतिहास में ऐसा उदाहरण नहीं है जहां स्त्री ने ऐसी अद्भुत शक्ति दिखाई हो, साहस दिखाया हो, निर्ममता दिखाई हो..."

मैं—"इसी कारण से पुरुष उनसे ईर्ष्या करने लगे। इसी कारण उनके हाथ धोकर पीछे पड़ गए, अंधे सन्देहवादी की तरह"

वे—"वे यदि मर्यादा में रहती तो यह सब नहीं होता। उनका जीवन एक शोकांत हो गया।"

मैं—"यानी फिर वही बात। आप चाहते हैं कि स्त्री का क्षेत्र सिर्फ घर है, बाहर नहीं।"

वे—"मैंने तो जितनी स्त्रियां घर को छोड़कर बाहर का कामकाज करती हैं, उन्हें देखा तो वे सुखी नहीं मिलीं"

मैं—"आप समझते हैं सब काम करने वाले युवक और पुरुष सुखी हैं?"

वे—"सुख मानने की बात है। स्त्रियों का सारा सुख घर में है। वे परिवार की धुरी हैं। जब से हिन्दुस्तान में स्त्रियां घर छोड़कर बाहर पुरुषों के बराबर काम करने लगीं, परिवार टूट गये। स्वार्थ बढ़ गया।"

मैं—"आप जिसे सुख कहते हैं वह स्वार्थ है।"

वे—"पश्चिम का तो मानना ही है कि अधिक से अधिक सख्या में लोगों का अधिक से अधिक सुख यही समाज का आदर्श है। ये उपयोगितावादी लोग हैं। उनके लिए स्त्री, पुरुष ये सब शब्द उपयोग में आने वाली वस्तुओं के दूसरे नाम हैं।"

मैं—"जिसे आप पश्चिम वालों का सुख कहते हैं, प्रोफेसर साहब वह दुख से छुटकारा है। भूख से छुटकारा अन्न की तृप्ति है; प्यास से छुटकारा पानी से संतोष है। अज्ञान से छुटकारा जिज्ञासा की पूर्ति है। और इस तरह से हर व्यक्ति अपनी स्वाधीनता चाहता है। वही सुख है। पुरुषों ने स्त्री की स्वाधीनता को अपने हाथों में लेकर उसे पराधीन बना दिया। स्त्री के सुख का नियंत्रक बनने का अधिकार पुरुष को किसने दिया?"

वे—"धर्मशास्त्र इतने बरसों की समझदारी का निचोड़ हैं। वे गलत कैसे हो सकते हैं?"

मैं—"वे भी पुरुषों ने ही बनाये। सती हो जाने का पुण्यकार्य उन्होंने ही बनाया। दहेज न लाने पर स्त्रियों को जलाना उन पुरुषों ने ही बहुत उचित और न्याय-सम्मत माना।"

वे बिल्कुल मानने वाले नहीं थे। मैंने भी सोचा कि ऐसे आदमी से बहस करना बेकार है। मैंने मेरे सामने दहेज से मरने-जलने वाली स्त्रियों के भारत के

एक ही अंचल और जाति की स्त्रियों के कई उदाहरण पड़े थे—वे उनके सामने मैं रख दिए। पढ़िए पूर्वांचल की एक संस्था का इस बुराई से लड़ने का सामाजि सुधार का प्रयत्न—

दहेज हत्याएं

1 कृष्णा हत्याकांड : तिनसुकिया (असम) में 16 अप्रैल 1985 की रात्रि श्रीमती कृष्णा देवी मयराना का आग लगकर असामयिक निधन। ससुराल-प द्वारा हत्या किये जाने का संदेह। युवा-मंच की तिनसुकिया शाखा द्वारा विशा शव यात्रा एवं शोक जुलूस, स्थानीय अग्रवाल सभा के सहयोग से आयोजित तिनसुकिया बन्द का सफल आह्वान। अपराधी गिरफ्तार एवं उनका सामाजि वहिष्कार। ऐसे मामलों पर हस्तक्षेप की परम्परा, युवामंच द्वारा इस मामले प्रारम्भ हुई।

2. मंजू हत्याकांड : रूपही (असम) में 23.11.1985 को मंजू वंसल क मृत्यु। मृतका के पीहर पक्ष द्वारा हत्या का संदेह। 29-11-85 को युवामंच क वधु दहन प्रताड़ना एवं परित्यक्तार्थ विरोध समिति की राष्ट्रीय संयोजिका श्रीमत कविता वेड़िया को सूचना प्राप्त। जांच हेतु मामला मंच की तिनसुकिया एवं दुम दुमा शाखा को सुपुर्द। जांच करने पर मामला स्वाभाविक मृत्यु पाया गया आपसी अनवन के कारण मृतका के पीहर पक्ष द्वारा दहेज हत्या का मामला बना की साजिश। मंच द्वारा कोई कार्यवाही नहीं। पुलिस कार्यवाही भी नहीं। मृत्यु के पूर्व पति-पत्नी में अनवन अवश्य थी, परन्तु प्रताड़ना का मामला भी नहीं था।

3. रेखा हत्याकांड : लक्ष्मणगढ़ (राजस्थान) में 13 जून 1986 को रेख की रहस्यमय मृत्यु। हत्या का संदेह। पुलिस द्वारा मामला दर्ज परन्तु निष्क्रियता मृतका के चाचा श्री एम. पी. केसोट द्वारा मंच के राष्ट्रीय अध्यक्ष से पत्राचा द्वारा सम्पर्क। मंचद्वारा राजस्थान सरकार एवं पुलिस प्रशासन से पत्राचार परन् कोई जवाब नहीं। क्षेत्र में शाखा नहीं होने के कारण प्रभावी कार्यवाही सम्भ नहीं एवं माध्यम अभाव में तथ्यों की जांच नहीं।

4. नानू हत्याकांड : विजनी (असम) ग्राम में 29-3-1986 को नानू देवी शर्मा की रहस्यमय मृत्यु। मृतका के पीहर पक्ष द्वारा हत्या का संदेह। दो महीने पुलिस द्वारा कोई कार्यवाही नहीं। मई, 1986 में युवा मंच द्वारा गठित वधू दहन प्रताड़ना विरोध एवं परित्यक्तार्थ समिति की राष्ट्रीय संयोजिका श्रीमती कविता वेड़िया को मृतका के पीहर पक्ष द्वारा सूचना। दिनांक 13-5-86 को गुवाहाटी एवं वंगाईगांव शाखाओं के संयुक्त प्रतिनिधि मंडल द्वारा श्रीमती कविता वेड़िया के नेतृत्व में विजनी का दौरा एवं मामले की जांच। हत्या का मामला पाये जाने पर अपराधियों की गिरफ्तारी की मंच द्वारा मांग एवं सात दिनों के भीतर कार्य

वाही हेतु स्थानीय पुलिस से अनुरोध। स्थानीय पुलिस द्वारा कार्यवाही नहीं किये जाने पर प्रतिनिधिमंडल द्वारा पुलिस महानिदेशक एवं गृहमंत्री श्री भृगु कुमार फूकन से भेंट एवं मामले की जांच सी. आई. डी. विभाग द्वारा करवाये जाने की माग। गृहमत्री द्वारा मामला सी. आई. डी. विभाग को सुपुर्द। मंच द्वारा सी. आई. डी. अधिकारी को परिस्थितिजन्य साक्ष्यों के बारे में जानकारी। जांच अधिकारी द्वारा गृहमंत्रालय को रिपोर्ट एवं अपराधियों की गिरफ्तारी के आदेश जारी। मृतका की सास, ससुर, एवं पति अन्ततः गिरफ्तार। लम्बी अवधि तक जेल में रहने के पश्चात् ही जमानत सम्भव। मामला जारी। युवामंच के अनेक सदस्य गवाहों की सूची में। मामले के आगे की कार्यवाही की देखरेख हेतु, कोकराझार शाखा से निवेदन। कोकराझार शाखा द्वारा पूर्ण रुचि एवं मामले की तथ्यों एवं कानून पक्ष का अध्ययन। मृतका के राजस्थान निवासी पीहर पक्ष की कई वृद्ध महिलाओं पर कोर्ट द्वारा समन। अदालत में उपस्थित होने पर अदालती तारीखों का संकट। युवा-मंच समाधान हेतु सचेष्ट।

5. पुष्पा हत्याकांड : मंगलदेई (असम) नगर में दिनांक 10-10-1986 को श्रीमती पुष्पा दुगड़ की जलने से मृत्यु। हत्या का संदेह। युवामंच के खारूपेटिया शाखा को 15-10-1986 को कांड के बारे में सूचना प्राप्त। युवा-मंच के नवयुवकों द्वारा मंगलदेई का तुरन्त दौरा एवं मामले के तथ्यों के बारे में जाच पड़ताल। हत्या का मामला नजर आने पर मंच द्वारा पुलिस में सूचना दर्ज। मृतका के पति श्री विजय जैन गिरफ्तार। मृतका के नन्दोई बाबूलाल डागा पर सहभागी होने का संदेह, परन्तु पुलिस द्वारा गिरफ्तारी नहीं। लम्बी अवधि के पश्चात् ही श्री विजय जैन को जमानत सम्भव। मामला जारी।

6. पुष्पा दहन कांड : बीरमहाराजपुर (उड़ीसा) में 2-12-1986 रात्रि को श्रीमती पुष्पा अग्रवाल को जलाकर मारने का ससुराल पक्ष द्वारा कुत्सित प्रयास। पूर्व में दहेज की माग के बारे में सूचनाएं। बुरी तरह जली पुष्पाजी प्रथमतः बीरमहाराजपुर अस्पताल में भर्ती तदुपरान्त कुरला अस्पताल में। ससुराल पक्ष द्वारा देखभाल नहीं। उपरोक्त घटना का ब्यौरा दैनिक नवभारत में 7-1-1987 को प्रकाशित। युवामंच बरगढ़ शाखा द्वारा 10-1-1987 को राज्य गृहमंत्री एवं प्रशासन तथा पुलिस अधिकारियों को इस संदर्भ में ज्ञापन पत्र। जीवन से संघर्ष करती पुष्पा जी को बरगढ़ युवा-मंच के सदस्यों द्वारा रक्त दान। [illegible] के संयुक्त प्रतिनिधि द्वारा पुष्पाजी का बयान दर्ज। [illegible] के [illegible] लाल अग्रवाल के सहयोग से पुलिस अधीक्षक से [illegible] सूचना। पुलिस अधीक्षक द्वारा स्वयं जाच किये जाने [illegible] जी का पति व ससुर पुलिस हिरासत में।

7. सरोज हत्याकांड : कटिहार (बिहार) [illegible]

की रहस्यमय मृत्यु। हत्या का संदेह। मृतका के चचेरे एवं ममेरे भाइयों द्वारा युवामंच के राष्ट्रीय अध्यक्ष से गुवाहटी में मुलाकात एवं कार्यवाही हेतु निवेदन। युवामंच राष्ट्रीय कार्यालय द्वारा 9-7-1987 को कार्यवाही प्रारम्भ। कटिहार पुलिस स्टेशन में दहेज हत्या का मामला दर्ज। मामला नं॰ 399 दिनांक 12-7-1987। मृतका के ससुर रामजीवन मुछाल, पति नवरतन मुछाल एवं बहनोई शंकर सोमाणी गिरफ्तार। सास श्रीमती श्रीकुमारी एवं ननद श्रीमती इन्द्र सोमानी फरार। जिलादंडाधिकारी कटिहार द्वारा मामला दहेज प्रतिशोध अधिनियम धारा-4 के अन्तर्गत 3-10-1987 को अभियोजित। कटिहार में हत्या के विरोध में स्थानीय मारवाड़ी समाज द्वारा 12-7-1987 को नगर वन्द एवं विशाल प्रदर्शन का आयोजन। युवामंच द्वारा जिलाधीश व आरक्षी अधीक्षक की भूमिका की प्रशंसा परन्तु थाना-अधिकारियों की निष्क्रियता की आलोचना। मामले की सुनवाई हेतु विशेष अदालत गठित। मृतका के चचेरे भाई श्री ओमप्रकाश कावरा के साहस एवं सक्रियता से ही अपराधी गिरफ्त में। लम्वी अवधि के पश्चात् ही गिरफ्तार अपराधियों की जमानत सम्भव। कथित अपराधियों द्वारा मृतका के पीहर पक्ष द्वारा मामले की कार्यवाही में ढिलाई। युवामंच द्वारा केन्द्रीय सरकार एवं राज्य सरकार से मामले को सी. वी. आई. के सुपुर्द करने की मांग।

विद्या हत्याकांड : विद्या हत्याकांड में अपराधियों को कठोर दंड दिलवाने का तिनसुकिया शाखा द्वारा वीड़ा एवं घटना के विरोध में कड़ा प्रतिवाद। अपराधी जेल में। मामला अदालत में विचाराधीन।

9. मन्जू शर्मा हत्याकांड : नवगांव (असम) में 1 जनवरी 1986 की रात्रि में पति द्वारा श्रीमती मंजू शर्मा को दोस्तों के समक्ष प्रताड़ना। दिनांक 2 जनवरी 1986 की सुवह लटकी हुई लाश। मृतका के पीहर पक्ष को विना सूचना के दाहसंस्कार। मृतका के चार महीने का गर्भ परन्तु पुलिस रिपोर्ट आदि में इसकी पुष्टि नहीं। मृतका के चाचा श्री महावीर प्रसाद पारीक द्वारा सम्मेलन एवं मंच से संपर्क। मंच की नवगांव शाखा द्वारा आरक्षी अधीक्षक को ज्ञापनपत्र। परन्तु प्रभावी कार्यवाही संभव नहीं।

10. प्रभा हत्याकांड : निर्धन परिवार की लड़की प्रभा की पति द्वारा जहर खिला कर हत्या। तिनसुकिया शाखा द्वारा सशक्त विरोध एवं लाश के मार्टम की व्यवस्था। मृतका के दाहसंस्कार एवं श्राद्ध आदि की व्यवस्था मंच द्वारा। मंच की तत्परता से अपराधी जेल में।

प्रोफेसर ने यह सव पढ़ा और चुप हो गये। कुछ संस्थाएं इस सारी नारी-शोषण वाली घटनाओं में सक्रिय हैं। सारे देश में हजारों लाखों वहुएं जल चुकी हैं।

वे तो मुक्त और [illegible]

हमने कोल्हू के बैलों सी
दोनों ओर लगा ली पट्टी
गोल गोल बस घूम रहे हैं
करते पशु सी छीना-झपटी

हम आंखें पाकर भी अन्धे
कई अंध हमसे हैं अच्छे
वे प्रकाश के मित्र और
हम आदिम अंधकार के बच्चे

पांच इन्द्रियों में से खोकर
एक बने हैं गूंगे बहरे
वैसे ही कोई हैं अंधे
पर हम कहीं क्षताहत गहरे
हमने खो दी सबसे बड़ी
शक्ति हाय वह संवेदन की
और बन गये संशयवादी
बने मानव-द्वेषी सनकी

शारीरिक आंखों का तो प्रत्यारोपण हो सकता है। पुनः दृष्टि प्राप्त हो सकती है। पर हम मन के और आत्मा के अन्धों का क्या करें? उनका कोई इलाज नहीं है। उन्हें जो दिखाई देता है, उसे वे जानबूझकर देखना नहीं चाहते। या देखकर भी अनदेखी कर देते हैं। ऐसे लोगों का क्या करें?

इस बात का पता उस दिन लगा जब शिमला के बाजार में शाल खरीदने में गई तो एक तिब्बती लड़की ने कहा—

"अरे यह आंखें तो पहचानी सी लगती हैं।"

दूसरी ने कहा—"नहीं, कई आंखें एकसी होती हैं। चेहरे भी एक से होते हैं।"

"नहीं, नहीं, ठीक ऐसी ही भूरी पुतलियां थीं, इतनी ही बड़ी थीं वे आंखें,

उनके पास का सफेद-नीला रंग भी ठीक मेरी सहेली साङ्या की तरह हैं।"

"कौन साङ्या?"

"अरे आप नहीं जानते। इस पहाड़ में कैसे-कैसे नर-राक्षस आते हैं!"

"क्यों?"

"एक बड़े आदमी यहां सैर करने आये। होटल में रहने लगे।"

"क्या नाम था उनका?"

"मित्तिर-मित्तर कहते थे"

"उन्होंने तेरी सहेली को क्या किया?"

"वह उनके घर में महरी का काम करती थी वे अच्छी तनखा भी देते थे। उनका खाना, चाय बना देना, कपड़े धोना, बर्तन मांजना, झाड़ू-पोंछा सब करती थी।"

"फिर वह कहां गई?"

"वह मर गई"

"क्यों?"

"ओ, उस बदमाश ने उससे जबर्दस्ती की। जब उसे बच्चा पैदा होने की बात का पता लगा तो घर से निकाल दिया। कुछ रुपये दे दिये और कहा कि जा रफ़ा-दफ़ा कर आ अपनी गलती"

"गलती उसकी या उस सफेदपोश गुण्डे का पाप था?"

"गुंडे को कोई पाप-वाप नहीं होता। पैसा सब पापों को धोकर पुण्य बना देता है। मेम सा'ब"

"फिर क्या हुआ?"

"फिर क्या होता। वह बेचारी दर-दर मारी-मारी फिरी। उसे कोई सहारा नहीं मिला। वह बच्चा पालकर बड़ा करना चाहती थी। अस्पताल गई।"

"वहां क्या हुआ?"

"उसके पास दवादारू के पैसे नहीं थे। पहले खून दिया। उसके पैसे मिलते थे। आंखें भी दीं। कहा कि ले लेना—मर जाऊं तो"

"फिर?"

"उसे बच्चा होते समय वह मर गई। और आंखें 'आई-बैंक में चली गईं।"

जिस आई-बैंक का नाम उसने जिस जगह और जिस अस्पताल का दिया था। वहां से तो मेरी आंखें मुझे मिली थीं।

इसे कहते हैं एक का दुख दूसरे का सुख बन जाता है। पर वह सुख बनते-बनते दुःख में बदल जाता है। यह सब ऐसा संयोग हैं जो किसी तर्क से समझाये नहीं जा सकते। यह अनहोनी अनदेखी होती है।

मैं फिर उदास होकर विचार करने लगी—क्या हर समझ में न आने वाली

चीज़ का कोई तर्क युक्त कारण है? अगर है, तो वह क्या हर एक की समझ में आ ही जाता है ? या समझदारों के परे भी कोई ऐसा क्षेत्र है, ऐसा बहुत कुछ है, जो हमारे सहसा ध्यान में नहीं आता। जिस पर हमारा कोई ज़ोर नहीं। जो हमारे इलाज से परे है। जो अबूझ है।

मुझे जब दृष्टि नहीं थी तब मैं कई तरह के सपने देखा करती थी। कई सपने उनमें से ऐसे मेरे मनमें बैठ गए थे, जो बार-बार मेरी नींद में आते। मुझे डरा कर जगा देते। एक सपना शब्दों में बयान करने की कोशिश करती हूं :

एक बड़ा भारी खेत है। पीले-पीले फूलों से भरा हुआ। हवा बह रही है। आसमान साफ है। न ज़्यादह गर्मी है न सर्दी पक्षी फुदक रहे हैं। चहचहा रहे हैं। तितलियां नाच रही हैं। सब कुछ आनंदमय है। तभी एक काली डरावनी चील की लंबी फैलती हुई काली छाया अपने डैने फैलाती—सारे दृश्य को सांवला बना देती है।...

इतने में सारे फूल बच्चे बन जाते हैं। नाच रहे होते हैं। कोई क्रूर पंजा आकर उनकी गर्दनें मोड़ देता है। यह पंजा मेरी ओर भी आ रहा है। फूल गायब हैं। मैं दौड़ रही हूं कि बच्चे भी गायब हैं। सब जगह बड़े-बड़े तोपों के गोलों के काले-काले छेद हैं। एक सब मरीन (पनडुब्बी) दूसरी को डुबो रही है। बड़ा भारी जहाज़ बहुत बड़े महामत्स्य के जबड़े में झूल रहा है। पर मुझे बचाने वाली मां की लोरी कहीं से सुनाई दी। मैं झूले में पड़ी हुई बात छोटी बच्ची हूं। सब हाय-तौबा मचा रहे हैं—और उसे अजगर आकर डस गया। मां चंदन घिसकर लगा रही है। हवा में सब जगह चंदन की धीमी-धीमी सुगंध फैली है। ..

एक कोयले की गहरी खान है ..सिर पर टॉर्च वाली टोपियां पहने, पीठ पर आक्सीजन के सिलेंडर बांधे खान के मज़ूर उतर रहे हैं। सैंकड़ों मज़ूर, कोयले से काले काले हुए चेहरे लिए, उतरे चले जा रहे हैं, उतरे चले जा रहे हैं—सीढ़ियां ख़त्म होते ही वहां कोयले की खदान नहीं तुतान खामेन का गड़ा हुआ ख़ज़ाना है। चमचमाते रत्न, सोने के आभूषण। नफरेती पूछ रही है—रोम्यूलस—तू इन चांडालों को कहां से ले आया ? मेरे होंठों पर इनकी बुरी नज़र पड़ते ही ये कोयला बन जायेंगे। रोम्यूलस ठठाकर हंसता है। कहता है—ये ताश के पत्ते मैं चीन से लाया हूं, मिस्र की महारानी। इन पर अपना दांव लगा। जिसका पत्ता जीतेगा, उसका यह सब राजपाट होगा। हारने वाले को ज़िंदा गाड़ देंगे।

इतने में दृश्य बदलकर एक बहुत बड़ी नदी दिखाई दी। मेरी बहुत छोटी-सी डोंगी है। उसे मैं अकेली ही चला रही हूं। चारों तरफ तूफानी हवाएं हैं सन-सनाती बहती हुईं। बिजली कड़क रही है। अंधेरे में बिजली की कौंध में एकदम एक बड़े मगरमच्छ का खुला हुआ जबड़ा पानी के बाहर आ रहा है। मगर की

हंसी आदमी जैसी है। मगर संस्कृत में धारा प्रवाह बोलता जा रहा है।

मैं ध्यान से सुनती हूं। यह संस्कृत नहीं, कोई तिब्बती जैसी एकाक्षरी भाषा है। अपरिचित भाषा है। अबूझी, अनदेखी लिपि की किताब यह मगर महाराज चश्मा पहनकर पढ़ रहे हैं। हमने उनसे पूछा—"आप ये मंत्र क्यों पढ़ रहे हैं?"

वह सोने के दांत चमकाता हुआ बोला—"इसे सुनकर तुम वनस्पति बन जाओगी। मैं तुम्हें चाहे जैसे तोड़-फोड़, चीर-काटकर उबालूंगा। उससे जादू की दवा बनेगी।"

मैं डर गई। पर मुझे डर से मुक्ति दिलाने वाला कोई नहीं था। चारों तरफ से लोहे की छड़ें मुझे कोंचने के लिए दांए-बाएं, ऊपर-नीचे चली आ रही हैं। मैं जिंदा सूली दे दी जाऊंगी। मुझे जोन आफ आर्क की तरह एक खंभे से बांधकर जला देंगे। मैं एक घास-फूस की झोंपड़ी में छिप जाऊंगी—घोड़ा से किले के परकोटे से छलांग मारकर नीचे गिरा तभी मर गया। और पीठ के पीछे बंधा बच्चा मैं दीवानसाहब को दे आई थी। गोरे बंदर उसे मेरा राज्य नहीं देना चाहते। कहते थे वह गोद लिया हुआ बच्चा है। अगर ज्यादह गड़बड़ करेगा तो सिर काट-कर थाल में तुम्हें भेंट कर देंगे।

शेर हंसी उड़ा रहा था—'जंगल में हम अपनी बहादुरी से अपना शिकार खुद कमाकर लाते हैं। ये आदमी चालाक और कांइयां है। इनके लिये शिकार करने वाले भी भाड़े के टट्टू, दूसरे ही दलाल होते हैं। ये साले बड़ा 'आदमी आदमी पर दया करे' का उपदेश देते हैं—नाटक करते हैं—दुनिया को उपदेश देते हैं—और अपने ही महापुरुषों का ये आततायी तरह-तरह से अंगच्छेदन और शिकार करते हैं—

इतिहास की किताब के पन्ने फड़फड़ा रहे हैं :
गैलीलियो की आंखें निकाल ली गईं
सुकरात को जहर का प्याला दिया
सरमद को सूली दी गई
मार्टिन लूथर किंग को गोली मार दी
त्रात्स्की को, इतना बड़ा मस्तिष्क हथौड़ों से कूटकर, मार दिया गया
वही हाल देहरादून में एलेन राय (एम० एन० राय की पत्नी) का
हमामदस्ते से किया
और आतंकवाद ने कितने कवि, कितने पत्रकार, कितने प्रोफेसर
विचारक गोली से उड़ा दिये—
पाश और विश्वनाथ तिवारी और सुमित और···
बिहार में कैदियों की आंखों में गंगाजल के नाम पर तेजाब···

यह सब अंधापन आदमी की हविस ने जान-बूझकर फैलाया है। इन सबके

कारण हैं, इलाज हैं। पर आदमी की हविस अंधी है, लाइलाज है।

मैं अपने से सवाल पूछती हूं—दर्शना! तू क्यों उस अनदेखी के बारे में बेकार सोचती रहती है। तू उस मर्ज का इलाज नहीं कर सकती। तुम बहुत कमजोर हो। अकेली हो, साधनहीन हो। क्यों उस पर्दे को उठाकर, उसके पीछे की अनदेखी को देखने में क्यों लगी हो? इससे क्या लाभ है? तुम्हें क्या मिलना है?

कवि जौन मिल्टन ने 'अपने अन्धत्व पर' एक सानेट लिखा था, जिसमें कहा—

"जब मैं सोचता हूं कि मेरी ज्योति कैसे चुक गई
मेरा आधा जीवन समाप्त होने से पहले ही,
तब इस अंधेरी लंबी-चौड़ी दुनिया में
सिर्फ एक मौत ही बची रही जिसमें मैं छिप सकूं
यही एकमात्र गुण, शेष सब कुछ बेकार,
जब कि मेरी आत्मा अपने मालिक की ओर सेवा
करने पर तुली हुई थी, और मैं तैयार था
अपना सब हिसाब देने के लिए, पर क्या करूं
वह मालिक भी लौटते हुए, मुझे ऐसी स्थिति में
छोड़ गया, मानो वह भी मुझे चिढ़ा रहा हो!

यहां मिल्टन अपने ईश्वर को 'मालिक' कहता है!

मेरा मालिक कौन है?

यही मैं अभी तक तै नहीं कर पाई। मेरे मां-बाप ने हिंदू विश्वास से मुझे परमपिता परमात्मा को सर्व-शक्तिमान, सर्वांतरयामी, सर्व-स्वामी कहा। वह कई रूपों में आया राम-कृष्ण, शिव, काली, सूर्य…

पर इन तिब्बती की आंखों में तो बुद्ध ही भगवान थे।

हिंदू और बौद्धों का कोई झगड़ा नहीं था। विष्णु का एक अवतार बुद्ध को बना लिया। पर बुद्ध के मानने वाले राम और कृष्ण को कपोल-कल्पित कहते हैं। पुराण कथाएं तो हर महापुरुष के आसपास जुट जाती हैं। कोई अपवाद नहीं है। ईसा ने भी चमत्कार किये, मुहम्मद ने भी, मूसा ने भी, जरथुस्त्र ने भी, महावीर ने भी, गुरु नानक ने भी…सब धर्म संस्थापकों की जीवनियों में ऐसी कहानियां आती हैं। उन पर विश्वास करने वाले करते हैं। कई जो विश्वास नहीं करते, नहीं करते।

मालिक ही जाने क्या सच है?

मैं मानती हूं कि भारत के तथाकथित, अशिक्षित, सामान्य लोग या जन-साधारण ही सच्ची कुंजी हैं, भारत में कोई भी परिवर्तन लाने के लिए।

न यह परिवर्तन नौकरशाही ला सकती है।

न यह परिवर्तन यह तथाकथित चुने हुए जन-प्रतिनिधि, या राजनेता ला सकते हैं।

न यह परिवर्तन विशेषज्ञ—वैज्ञानिक, कलाकार, बौद्धिक, तथाकथित विचारक ला सकते हैं।

यह जनसाधारण आज की हालत को अंधी गली नहीं जानते। वह कोल्हू के बैल वाली दोनों आंखों पर काली पट्टियां बांधे, गोल-गोल घूमने की पुनरावृत्ति भी नहीं मानते। न वे हर नई पार्टी के नये नेता के नये प्रोग्राम की नयी अंधी-उड़ान या अंधी गोताखोरी को परिवर्तन का मान-दंड मानते हैं।

तो उस दिन मैंने सड़क पर फल बेचने वाले से पूछा—

"कहो भाई, ऐसे कैसे चलेगा ?"

"ऐसे क्या ?"

"सेब सस्ते और प्याज़ महंगे हो गये हैं।'

"मैं क्या करूं मेमसा'ब—हम तो इतना ही जानते हैं कि चालीस साल में गरीब और गरीब और अमीर और अमीर हो गये।"

"कांग्रेस के राज में, स्वराज्य में कोई फ़र्क नहीं आया ?,'

"फर्क इतना ही कि पहले राज करने वाले थोड़े पढ़े-लिखे थे, अब बे-पढ़े-लिखे ही बे-पढ़े-लिखों पर राज कर रहे हैं।"

"सो कैसे ?"

"हर एक को वोट का अधिकार है। पर यह नहीं जानते किसको वोट देना है।"

"तुम किसको दोगे ?"

"जो हमको सबसे ज्यादह नोट देगा।"

मैं कुछ नहीं बोली। चुपचाप फल लेने लगी।

'समाज परिवर्तन ?' उस दिन शाम को एक कवि मिलने आये—'वह तो हम कवि लोग लायेंगे। देखिये न जोश मलीहाबादी ने नारा दिया था—

'काम मेरा है तग़य्युर नाम मेरा है शबाब
आज नारा है इंकिलाबो इंकिलाबो इंकिलाब !'

मैंने कहा—"कवि क्या क्रांति लायेंगे ? वे तो सब या तो सब रामनामी ओढ़कर आसमानी बातें करने लगे। या एक बीबी छोड़कर औरतों के पीछे बरबाद होते रहे। वह न मिलने पर शराब में डूबकर आत्महत्या कर बैठे।"

"प्रेमीजन तो प्रेमिका की आंखों को ही अपनी ज़िंदगी की प्रथम और अंतिम मंज़िल मानते हैं। उर्दू बातों को छोड़िए, अंग्रेजी के कवि टॉमस मूर ने लिखा—

"जो नारी के नेत्रों में था छिपा प्रकाश
वही हो गया मेरी खातिर सर्वनाश !"

मैंने कहा—"प्रलय इतनी आसान होती तो पलक झपकते ही हो जाती।"

14

रोज अखबारों में दहेज न लाने की वजह से स्त्रियों को, नयी बहुओं को जलाने, जहां-तहां भूखा मारने, दूसरी मंजिल से नीचे फेंक देने और अनेक प्रकार की यातनाएं देने की कहानियां पढ़ी जाती हैं। कुछ मामले ही पुलिस तक पहुंच पाते हैं। ज्यादातर लोग इन्हें आत्म-हत्याएं कह देते हैं। और इसमें मानसिक यातनाएं जो नववधू को ससुराल वाले, सास-ससुर, ननद, देवर भौजाई और स्वयं पति देता है उनकी तो गिनती ही नहीं। धन का, उपहार में मिलने वाले ऊपर के पैसे या वस्तुओं का ऐसा लालच और विकराल लोभ सबमें घर कर गया है कि गांव-गांव में पहले साइकिल नये वर को चाहिए थी, तो उसमें अब ट्रांजिस्टर आ गया। नया सूट और जूते और साफा-पगड़ी और चादर ही काफी नहीं, अब जहां बिजली पहुंच गई उसे चाहिए फ्रिज और टी॰ वी॰ और वी॰ सी॰ आर॰!

इस चीज का कोई अंत नहीं है। लड़का, नया नौशा या भावी पति साइंस में बड़ी डिग्री पा रहा है—इंजीनियरी या डॉक्टरी की पढ़ाई का खर्च दो। विदेश में भेजने का खर्च दो। नौकरी कर रहा है तो उसके नाम जमीन खरीद दो, फ्लैट खरीद दो, किस्तों में रकम दो। कुछ नहीं तो उस लड़के की बड़ी बहन है, उसकी शादी पहले होनी चाहिए, उसका खर्च दो। कुल मिलाकर, बस,—"दो, दो, दो"! यह इसलिए कि परंपरा से 'वर' उच्च-पक्ष है, ऊपर वाला है। वधू और उसके पक्ष को दबते ही जाना है, वह सदा गौण है। समाज में स्त्री की इतनी अवनत अवस्था बना देने में हमारी परंपरा, हमारे रूढ़िवादी अंध धर्म-नेता, हमारा सारा सोचने का ढंग बनाने वाली शिक्षा-व्यवस्था—यहां तक कि हमारे राजनेता भी जिम्मेदार हैं। बड़े व्यापारी, नेता, समाज के तथाकथित उच्च वर्ग के महापुरुष जैसा करें उनका नकल सब लोग उतारते हैं। वे ही उनके मॉडल हैं। हाल में देश में बड़े रजवाड़ों के बेटे-बेटी की शादी पर करोड़ों खर्च हुए। एक-दूसरे उद्योगपति के विवाह के निमंत्रण पत्र लाखों रुपयों में छपे। राज्य सभा सदस्य 'जनवादी' चित्रकार मक़बूल फ़िदा हुसैन के विशेष चित्र उन निमंत्रणों पर छापने के लिए विशेष फ़ीस दी गई। शादी न हुई फ़िल्म-स्टारों की 'संगीत नाईट' हुई। मनोरंजन को व्यवसाय बनाने वाले हमारे समाज में सरकार, जो कि जनतान्त्रिक है, शामिल

है। पहले वह सिनेमा के गीतों की 'विविध-भारती' से लाखों कमाती थी, अब टी० वी० सीरियलों के प्रायोजकों से। क्या इस तरह कल्याण-राज्य अपने आपको कहलाने वाले लोकतंत्र का व्यवसायीकरण उचित है ?

व्यवसाय से मुनाफा कमाना, फिर मुनाफे से और मुनाफा कमाना, यह एक अन्तहीन सरणि है। शून्य पर शून्य बढ़ाने का यह धंधा अंधा है।

पश्चिम की यही मुश्किल है। प्रगति के नाम पर वह प्रकृति के सारे वरदानों का इतना अधिक शोषण कर रहा है कि यूरोपवासियों को, अमेरिका वालों को हमेशा डर लग रहा है कि इस सदी के अंत तक सारा कोयला और पेट्रोल नष्ट हो जायेगा। और सारी दुनिया अनंत अंधेरे और अनंत शीत में ठिठुरकर मर जायेगी। इसलिए अब वे क्या कर रहे हैं कि जहरीले गैस के कारखाने, धुंआ ज्यादह उगलने वाले उद्योग, जिसका प्रदूषित तेजाब नदियों में बहाया जा सके ऐसे रासायनिक बड़े पैमाने पर ज्यादह मुनाफा देने वाले उत्पाद—ये सब एशिया और अफ्रीका के पिछड़े हुए और अविकसित नहीं नव 'विकासशील' देशों में वे अपनी पूंजी लगा रहे हैं। अमेरिका के कार्बाइड कारखाने को बड़ी मात्रा में जंतु नाशक बनाने के लिए सुदूर भोपाल क्यों चुनना पड़ा ? वहां के किसी भ्रष्ट अनुमति-दाता ने बस्ती के करीब कारखाना लगाने का परवाना दे दिया, आराम से। और गैस रिसने से एक रात में दस हजार लोग मर गये या विकलांग हो गये या दहशत से मनोरोगी बन गये !

इसी पश्चिम की दुविधा को मेक्सिको के कवि आक्टोवियो पाज ने इन शब्दों से कहा है—

"आधुनिक विचार की सबसे बड़ी दरिद्रता यह है कि वह बुराई के बारे में, पाप के बारे में सोचने में असमर्थ और लुंज हो गया है।···वह सोचता है कि अच्छा क्या और बुरा क्या ? सब एक ही है। कोई ऐसे पूर्व निर्धारित नियम नहीं है जिनसे अच्छे और बुरे का भेद किया जा सके। इन दोनों में कोई तमीज या विवेक किया जा सके। हम यह मानकर चल रहे हैं कि आवश्यकता के अनुसार हम ये सब मूल्य बना लेते हैं, यह विचार ही संकट का मूल कारण है।"

और सॉल बेलो जैसे अमेरिकी उन्यासकार भी इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि—
"आधुनिक किशोर या किशोरी किसी चीज पर जमकर, एकाग्र होकर सिलसिलेवार सोच ही नहीं सकते। उन्हें टुकड़ों-टुकड़ों में, बंटा हुआ, क्षण-क्षण नया उभरनेवाला खंड सत्य ही प्रधान। वह चाहे जितना गौण और बेकार का हो, क्षण-जीवी हो, वह अंतिम सत्य है। महान् मूल्य है! "और—" यह आधुनिक 'आत्मा' एक नकली, कृत्रिम टुकड़े-टुकड़े जोड़कर नया संश्लिष्ट बनी-बनायी उसाद है। वह मानवीय स्रोतों से नहीं उपजती। वह कुछ स्वार्थी सुरक्षा और समाज में बढ़ोतरी से प्रेरित उन जरूरतों को तृप्त करनेवाली चीज है···इस तरह से मानव की असली

अस्मिता धीरे-धीरे क्षरित हो जाती है'''युरोपियों को इसका बहुत अच्छा अनुभव है, क्योंकि सबके आधुनिक अनुभव एक से हैं। एक जैसी जग से वे गुजरे हैं। अगर यह क्षरण नहीं होता तो हिटलर जैसा व्यक्ति पैदा ही नहीं होता।

सॉलवेलो के वाक्य में 'हिटलर' की जगह हम 'गोड़से' या 'भिंडरावाले' शब्द लगाके सोचें ! या भारत के बाहर देखना चाहिए तो किसी भी अन्य फौजी तानाशाह का नाम जोड़ दें—स्तालिन या माओ, नं कार्यो या अम्यातोला खुमैनी, ईदी अमीन या मुसोलिनी'''वाक्य का वजन सही रहता है। एक अन्धता अनेक अन्धताओं को जन्म देती है।

पहाड़ी रास्ते पर मैं इस मोड़ पर से आगे का नहीं देख सकती। मैं नीचे उस ऊंचे-ऊंचे पेड़ों से ढंकी घाटी के भीतर क्या छिपा है नहीं देख सकती। मैं पहाड़ की चोटियों के उस पार क्या है नहीं देख सकती।

और मैं समझती हूं कि मैंने प्रकृति को पूरा जान लिया। सब रहस्यों को समझ लिया।

जो सामने है, प्रत्यक्ष है, वर्तमान है उसके बारे में हम इतने अनिश्चित हैं।

तो हमारे भूतकाल और इतिहास के बारे में तो हम और भी अंधेरे में हैं। रोज नये उत्खनन होते हैं। रोज नये अनुमान बदलने पड़ते हैं। रोज नये सिद्धान्त सामने आते हैं।

हमारा ज्ञान-अज्ञान बनता जाता है। अज्ञान-ज्ञान। कितना विचित्र है यह सिलसिला।

इसलिए मैं भविष्य के बारे में बहुत अनिश्चित रहती हूं। मेरा न ज्योतिषियों पर विश्वास है, न हाथ देखनेवालों पर। न ऐसे ही सब नजूमियों पर मेरा एतबार जमता है।

लेकिन परसों एक वैज्ञानिक आये। और बता गये कि हर आदमी के अंगूठे की छाप अलग होती है। उसमें उसका सारा पूर्व-जीवन एक लघु-चित्र की तरह अंकित है। वह 'डी-एन-ए' का ग्राफ है। उन्होंने वंश-विज्ञान, आधुनिक चिकित्सा विज्ञान, भौतिक विज्ञान और पर्यावरण-शास्त्र के आधार पर बताया कि केवल अंगूठे के छापे से वे अनदेखे-अनदेखी पुरुष और स्त्रियों की शरीर-रचना, मनो-ग्रंथियों, समस्याओं के बारे में कई पूर्वानुमान कर चुके हैं और वे सच निकलते हैं। मैंने अपने बारे में पूछा। दोनों हाथों से अंगूठों के निशान दिये।

उन्होंने बताया —दर्शनाजी, आप बहुत अधिक सोचती हैं।

"ठीक है।"

"उसका कारण आप बहुत संवेदनशील हैं।"

"यह भी सही है।"

"आपके माता-पिता की किसी पीढ़ी में आंखों की बीमारी रही थी।"

"हां, मेरी नानी को रतौंधी थी।"

"पर इस तरह की नेत्र-पीड़ा से आपका दृष्टिकोण बहुत अंतर्मुखी है। ऐसे लोगों को कविता और संगीत बहुत प्रिय होता है।"

"यह भी सच है।"

"पर यह लोग अपनी अंतर्मुखता से हमेशा लड़ते रहते हैं। उसे छिपाते हैं। उनकी कोशिश होती है कि वे अपने आपको बहुत बहिर्मुखी दिखायें। इसलिए समाज-सेवा, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि में वे बड़ी रुचि दिखाते हैं।"

"हां, यह भी मेरे ऊपर लागू है।"

"पर उनकी कोशिश अंदर और बाहर के इस परस्पर विरोध को कम करने की रहती है। जितना ही अंतर्मुख होती है बहिर्मुख बनती है।"

मैं चुप।

पश्चिम का ही एक उदाहरण देती हूं इस्रायली अद्भुत प्रतिभा युरी गेलर का। उसमें विलक्षण शक्ति थी, खास तौर पर उसकी दृष्टि में।

बचपन में मां ताश खेलती तो युरी बराबर बता देता कि जीत रही है या हार रही है—कितना हार रही है। तब युरी पांच छह बरस का था।

युरी बड़ा हुआ स्कूल जाने लगा। तो पिता ने उसे एक कलाई-घड़ी उपहार में दी। वह घड़ी की ओर देखता और दोपहर की छुट्टी का समय घड़ी के कांटे दिखाते। मगर लंच की छुट्टी की घंटी बजती ही नहीं थी। उसने घड़ी के कांटे फिर पीछे किये। पर वह कांटे और आगे होने लगे अपने आप, युरी की नज़र उस पर एकाग्र होते ही। घड़ी पांच-पांच छह-छह घंटे आगे जाने लगी। मां बाप ने सोचा कि घड़ी में कोई दोष होगा। इसलिए दूसरी घड़ी दी गई, इनाम में। अब इसके कांटे युरी की नज़र पड़ते ही गोल-गोल घूमने लगे क्लास में बैठे हुए उसने चीखकर अध्यापकों को बुलाकर कहा—'देखो, देखो, क्या हो रहा है?' पर सब लोग उसका मज़ाक उड़ाते रहे। उस पर हंसते रहे। युरी बेचारा शरमा गया।

अब नई घड़ी जो मिली तो लंच के समय छुट्टी में उसने देखा तो घड़ी के दोनों कांटे टेढ़े हो गए थे। कांच फोड़कर बाहर आना चाहते थे। युरी को लगा कि यह अनुभव सबको बुलाकर दिखाये, सबसे कहे—पर उसे पहले तजुरबे से लगा कि सब लोग हंसेंगे। वह चुप रह गया। मां-बाप से कहा तो अब युरी का घड़ी पहनना बंद करा दिया गया।

मगर जिस स्कूल में वह जाता था, वहां भी एक गड़बड़ी हुई—जिस किसी दोस्त की घड़ी की ओर वह देखता उसके कांटे भी ऐसे ही तेज दौड़ने लगे। उसने बड़े गर्व से कहा—"मेरी नज़र ने यह चमत्कार किया—घड़ी को एक घंटा आगे

कर दिया।" परंतु किसी का भी विश्वास उस पर नहीं हुआ। घड़ी की ओर सिर्फ देखता और कहता—"आगे बढ़" और घड़ी का समय आप-से-आप आगे होता। अब लोग चकराये। हंसे नहीं। मगर उन्हें लगा कि युरी ने कोई हाथ की सफाई की होगी। कोई चुंबक लगाया होगा, चुपचाप।

अब एक दिन मां ने रसोईघर में उसका प्रिय 'सूप' बनाया। युरी प्रेम से 'सूप' चख रहा था कि उसका चम्मच टेढ़ा हो गया। चम्मच का आगे का हिस्सा टूट-कर अलग पड़ गया। युरी के हाथ में सिर्फ चम्मच का हैंडल रह गया। मा समझी हो सकता है, कोई टूटा हुआ चम्मच ही उसे मिला हो। सब हंसे; युरी भी हंसा। पर वह मन में विचार करने लगा—'कोई ऐसा टूटा हुआ चम्मच कहीं मेज पर रखते हैं क्या ?

एक बार युरी मा के साथ होटल में गया। वहां मां की एक दोस्त भी साथ में थी। वह केक खा रहा था। उस टेबल पर जहां-जहां युरी की नजर पहुंची सब चम्मच टेढ़े हो गये। वेटर को बुलाया। उसने वे जमा किये। फिर नये चम्मच लाये गये। मां को अब लगा कि युरी को किसी मानसोपचार विशेषज्ञ के पास ले जाना चाहिए।

एक बार युरी ने अपने मा-बाप को इसी शक्ति से बचाया। मा-बाप उसे प्राणी-उद्यान या 'जू' देखने ले गये। फाटक तक जाते ही पता नहीं युरी को क्या लगा—वह कहने लगा—'मा, वापिस चलो।"

मा ने पूछा—'क्यों ?'

युरी—"मां, अंदर मत जाओ। खतरा है। वापिस लौटो।"

इतने में सचमुच में देखा एक शेर पिंजड़ा तोड़कर बाहर आ गया है और सारे 'जू' में भगदड़ मची है। युरी, युरी की मा और उसकी दोस्त जिससे वह बातें करते हुए फाटक के पास ही रुक गयी थी, सुरक्षित वापिस चले आये। अनदेखी आनेवाली विपत्ति का पूर्वाभास युरी को हो गया था।

युरी के पिता उसे मिलिटरी छावनी के पास के पहाड़ी इलाके में घुमाने ले जाते थे। उस चढ़ान पर जीप से जाते हुए युरी को कभी कोई डर नहीं लगता था। एक दिन युरी ने पिता को उधर जाने से रोका। उसने ज़िद पकड़ ली—'पिताजी, आज आप उधर न जायें।' आखिर वे छावनी में वापिस आते थे, तो बहुत बड़ा आवाज हुआ और उस जीप-गाड़ी का आधार का हिस्सा ही बीच में टूट गया। पिता ने युरी की ओर देखा—अच्छा हुआ वे उन चढ़ाई पर जाने से बच गई। सचमुच वे ऊपर गये होते तो ?

ऐसे ही युरी बड़ा हो रहा था। बाद में उसके मा-बाप में तलाक़ हुआ। मां ने दूसरी शादी कर ली। वह पिता को छोड़कर सायप्रस द्वीप पर आ गया। उसके नये पिता लॅडोस्लंम के गराज में एक साईकिल थी। वह साईकिल उसने तेरह बरस

का होने पर जन्म-दिन में उपहार मिलनेवाली थी। पर युरी को जल्दी से वह चाहिए थी। अगर यह ताला खुल जाय तो! उसने ताले की ओर नजर एकाग्र की। ताला खुला। साइकिल निकाली—पचास बार वह उस पर चढ़ने की कोशिश करते-करते आखिर वह साइकिल पर चढ़ गया। सबको बड़ा अचरज हुआ कि उस गराज का ताला टूटा कैसे और साइकिल उसे मिली कैसे ?

युरी ने एक दिन सवेरे देखा कि मां-बाप घर में नहीं हैं। पता नहीं उसे कैसे पता लगा। वह सीधे अस्पताल में चौथी मंजिल पर उसी कमरे में पहुंच गया, जहां बीमार पिता बिस्तरे पर लिटाये गए थे। युरी की अध्यापिका अॅग्रोटिस के बारे में उसने अपनी 'टेलीपथी' से कह दिया कि वह किस बात की चिंता कर रही है—वह बात सच निकली। उसने इस अध्यापिका को अपने स्पर्श से चम्मच टेढ़े किये, चाबियां टेढ़ी की दीं। यह युरी की अनदेखी अद्‌भुत शक्ति युरी को और विख्यात बनाती गई। उसने बंद घड़ियों को चलाना शुरू कर दिया।

युरी युद्ध क्षेत्र में गया। वह पहले से भविष्य की बातें जान जाता था कि वह युद्ध में जख्मी नहीं होगा। उसके दोस्त की मौत हो जायेगी। युरी को एक दोस्त शिप्पी मिला, जिसमें उसी की तरह 'अनदेखी' शक्ति थी। दोनों मिलकर अपने शक्ति प्रदर्शन के कार्यक्रम दिखाने लगे।

बाद में युरी इस सारे व्यावसायिक प्रदर्शन से ऊब गया अमेरिका के फौजी कर्नल ने कहा कि तुम्हारी इस शक्ति का बड़ा उपयोग हम सेना के काम में करेंगे। वे उसकी परीक्षा लेने आए। युरी ने कहा—एक पिन आप अपनी मुट्ठी में पकड़े रहिये। उसने वैसा ही किया। युरी ने कहा—'मुड़ जा-मुड़ जा'। वह बुदबुदाया नहीं कि मुट्ठी खोली तो पिन के दो टुकड़े हो चुके थे।

17 अगस्त 1971 को युरी अमेरिका में गया। डॉ० अंड्रीजा ने उस पर कई प्रयोग किये और नियंत्रित परिस्थितियों में युरी की दृष्टि-शक्ति और वाक्-शक्ति को समझने की कोशिश की, कि इन सबका कारण क्या होगा। डॉ० अंड्रीजा ने जब देखा कि भौतिक प्रयोगों से इस चमत्कार का कोई अर्थ नहीं लग पाता, तो उन्होंने सम्मोहन-विद्या (हिप्नोसिस) की सहायता ली। युरी जो बड़बड़ करता था वह टेप की गई। जब वह हिब्रू भाषा में अरब देश के एक गुलिस्तान में तेजस्वी प्रकाश से बेहोश होने की बात करता था। उसके बाद देखा तो टेप ही गायब हो गई। दो बार ऐसा हुआ। युरी का विश्वास बढ़ गया कि मन की शक्ति से वह वस्तुओं को भी गायब कर सकता है।

उस टेप में यह उल्लेख था—'यह शक्ति मुझे दूसरे सौर-ग्रह से मिली है। वह ग्रह अभी हजारों प्रकाश वर्ष दूर है।' यह टेप खुद युरी ने सुने तो उसे लगा कि ये आवाज किसी कंप्यूटर के (संगणक के) हैं—मनुष्य निर्मित नहीं। रहस्य बढ़ता ही गया···

ज्ञान नहीं है। कई अनदेखी शक्तियां भी हैं, जो अभी पूरी तरह से विज्ञान की समझ में नहीं आई हैं।

ऐसी बातें जब मैं पढ़ती हूं और सोचती हूं तो मेरे प्रोफेसर परिचित आकर कहने लगते हैं —

"आप अपने दुख से परेशान हैं, इसलिए कोई नकली श्रद्धा का आवरण अपने आस-पास बना लेती हैं। और बार-बार कहती हैं कि विज्ञान अधूरा है वैज्ञानिकों की समझ अंतिम नहीं है।"

"यह आपने कैसे जाना कि वैज्ञानिक भी दुखी नहीं हैं। और वे भी अपने आस-पास ऐसी ही एक अपने आपको विश्वास दिलानेवाला मानसिक कवच निर्माण करते हैं?

'विज्ञान में माननेवाला ऐसे भ्रम नहीं पालता। वह ठोस जमीन पर होता है।"

"ठोस जमीन क्या चीज है, तर्क की दुनिया में?"

"जो सिद्ध किया जा सके। जिसके प्रमाण हों। जो प्रयोग से पुनः प्राप्त किया जा सके।"

"परामनोविज्ञान में भी कई घटनाएं बार बार घटित होती हैं। एक जैसी चमत्कारिक होती हैं। यह फर्क है कि कुछ ही लोगों में ऐसी अलौकिक शक्ति होती है। आपके विज्ञान में भी क्या नई खोजें हम वैज्ञानिक नया करते हैं?"

"प्रतिभा तो यहां भी जरूरी है। पर हम उसे चमत्कार नहीं कहते। प्रयोग कहते हैं।"

मैंने उनसे बहस करना बेकार समझा।

मैं 'विज्ञान और धर्म' एक पुस्तक पढ़ रही हूं। उसमें एक विद्वान ने अपने लेख में लिखा है :

"धर्म हर संस्कृति का अलग-अलग होता है। उसे भूगोल और इतिहास बनाते हैं। परन्तु विज्ञान तो सबके लिए समान है। वही दवाइयां सब जगह काम आती हैं, वही 'एक्स-रे' या 'लेसर' किरण सब जगह एक-सा काम करती हैं। बिजली हो या ध्वनि तरंगें वे भेदभाव नहीं करतीं। वे सर्वसंचारी हैं। वे सीमातीत हैं। धर्म की अपनी सीमा है। वह व्यक्ति के विश्वासों पर आधारित है।"

यह सब तो ठीक है। पर कहां मैं अपने आंसुओं का रोना लेकर बैठी थी। और मैं कहां से कहां पहुंच गई?

उस दिन मुझे पता लगा कि मैं कैसी किताबी दुनिया में रहती हूं। समाज में [illegible]

[illegible]

में गई। झोंपड़ी में एक बूढ़ा खाट पर खांसता हुआ बैठा था।

उसने मेरे पैरों की आहट सुनी। बोला [illegible] कौन है ?

"मैं वाहर से आई हूं। यहां झुग्गी में रहनेवालों से मिलकर उनकी हालत पर रिपोर्ट वना रही हूं।"

"मेरे से तुझे क्या फायदा ?"

"क्यों ?"

"मैं तो यह ऐसा अंधा हूं।"

"तो क्या हुआ ?"

"मैं किसी के काम का नहीं हूं।"

"क्यों तुम्हारी कोई मदद नहीं करता ?"

"मैं रात-दिन प्रार्थना करता हूं कि भगवान मुझे जल्दी से ऊपर उठा ले जाये।"

"ऐसा क्यों सोचते हो ?"

"मैं इनके लिए वोझ हूं। जितने जल्दी मैं मर जाऊं, सो भला।"

"क्या तुमने अपनी आंखें डाक्टर को दिखाई ?"

"उसमें पैसा लगता है।"

"इधर कोई डाक्टर नहीं आता।"

"क्यों आयेगा ? यहां सव गरीव होते हैं।"

"फिर भी ?"

"एक दिन एक डाक्टरनी आई थी। कह गई कि मेरा कुछ नहीं हो सकता। अव आंखों की जोत वुझ गई। अव मौत तक ऐसे ही अंधा वना रहना होगा।"

"नहीं तुम पढ़ सकते हो ?"

"अव क्या पढ़ेंगे। और विना आंखों के ?"

"तुम्हारे लिए हिन्दी में अव छूकर पढ़ने लायक किताबें वन गई हैं।"

"अच्छा ?"

"मैं कल वे ले आऊंगी।"

मैं वहां एक ब्रेल विशेषज्ञ को ले गई। वह वृद्ध आदमी छह महीने में पढ़ने लगा।

15

मैंने अंधकल्याण-पत्रिका में पढ़ा—

वैसे तो अंधों के लिए 'ब्रेल' लिपि डेढ़ सौ वरस पुरानी है। उस पर यह

आक्षेप लिये जाते रहे हैं कि यह किताबें बहुत भारी होती हैं। मोटी-मोटी होती हैं। और उन्हें पढ़ाने में बड़ा समय लग जाता है। अब उन्होंने पश्चिम में जो इस 'ब्रेल' लिपि को अपनी-अपनी भाषाओं के अनुकूल ढाल लिया था। अब हिन्दी में भी यह सुविधा प्राप्त हो गई है।

1887 में पहली अन्धशाला भारत में स्थापित हुई। कई भाषाओं के लिए ब्रेल लिपि का प्रयोग किया जाने लगा। 1953 तक भारत सरकार को दस 'ब्रेल' लिपियों का पता था। पचास साल से अलग-अलग प्रयोग चल रहे थे। हर 'ब्रेल' लिपि पद्धति के पक्ष और विपक्ष में लोग अपने अपने तर्क देते थे।

1949 में यूनेस्को की सहायता ली गई। और उन्होंने 1950 में एक अन्तर्राष्ट्रीय कांफ्रेंस बुलाई, इस समस्या का हल करने के लिए। 63 ब्रेल संकेत 7 रेखाओं में बांटकर रखे गये थे। 1953 में 'भारती ब्रेल' तैयार हो गई। फिर उस पर विचार-विनिमय होता रहा। 1960 तक ये बातें सोची गई कि—

—संक्षिप्तीकरण और संकेत-संकोचों की संख्या कितनी हों।

—यह संकेत-संकोच क्या सन्दर्भ-समानताओं पर आधारित हों?

—क्या ये अर्ध-संकेत-ब्रेल-चिह्नों के शब्द या शब्दांशों द्वारा नियमित हो?

1973 में भारत सरकार ने फिर एक कमेटी बनाई—अंधों के लिए मानक हिन्दी लिपि के लिए। हिन्दी सलाहकार रमाप्रसन्न नायक इसके अध्यक्ष थे। लाल अनुवाणी सचिव।

समाज कल्याण मन्त्रालय ने देहरादून के अंधों के लिए राष्ट्रीय केन्द्र की ओर से एक स्टाम्प-पत्र वितरित किया। और यह चाहा गया कि पढ़ने में सबसे कम समय जिसमें लगे,

लिखने या मुद्रण में कम-से-कम स्थान आवश्यक हो।

सर्व सुलभ और समझने लायक हो।

मुद्रित शब्द और ब्रेल में अधिकतम समानता हो।

इस लिपि के लिए कई निर्णय लिये गये। 277 संकेत और संक्षिप्तियां तैयार की गईं। अलीगढ़, दिल्ली, बम्बई, देहरादून में इस लिपि का प्रयोग अंधे बच्चों पर किया गया।

1979 पर इस पर पुनर्विचार किया गया। देहरादून में जुलाई 1981 में एक अंध विकलांगों के लिए कार्यशाला आयोजित की गई। बच्चों के लिए कहानी की किताबें उस लिपि के अनुसार बनाई गई।

अब इनमें भी कुछ ब्रेल संकेत ऐसे थे जो और अक्षरों से मिलते जुलते थे। जिससे उंगुलियों से पढ़ने वालों के मन में कई बार भ्रम हो जाता था। इसके लिए 1935 में हिन्दी ब्रेल की एक कार्यशाला आयोजित की। 15 बच्चों को आठ हफ्तों के प्रयोग में छठी और सातवीं कक्षा के देहरादून के माडल स्कूल के

बच्चों ने बहुत जल्दी इसे सीख लिया।

फिर यह विशेषज्ञों में बांटा गया। और अब प्रायः इस बात पर सहमति प्राप्त कर ली है कि हिन्दी की यह ब्रेल पद्धति अंधों के लिए प्रकाशित सब पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं में प्रयोग में लाई जाये। बार-बार लिपि बदलना ठीक नहीं होता।

अब 10 से 16 बरस के अंध बच्चों के लिए 155 संकेत और 80 संक्षिप्तियां 9 सूचियों में उपलब्ध हैं। अब इनसे 20 प्रतिशत स्थान का बचाव हो गया है। और पढ़ने में समय भी कम लगता है। 'नयन रश्मि' पत्रिका इसी नयी ब्रेल पद्धति से छपती है।

अब तो 1400 ब्रेल किताबों की एक चलती-फिरती वैन-लाइब्रेरी दिल्ली में काम करने लगी है। ऐसी ही लाइब्रेरियां और बड़े शहरों में अंधों के लिए भेजी जाएंगी, ऐसे समाचार हैं। कई कैसेट भी बनाये गये हैं, जो अंधे चला सकेंगे और उनसे खुद सीख सकेंगे।

पहले वाली हालत नहीं रही। अंधों की दुनिया उतनी अंधेरी नहीं रही।

मैं अपनी कहानी कहते-कहते कितनी सारी बेकार बातें कह गयी। शायद आप उनसे ऊब गये होंगे। मैं जानती हूं मेरे जीवन में कितने लोग आये और गये। कई स्मृति रूप रह गये। कुछ यादें साफ होती हैं, कुछ उतनी साफ नहीं होतीं। जैसी आती गईं मैं लिखती गई। सुनाती गई।

स्मृतियों की भीड़ में कई कुचल जाती हैं। कइयों की अपनी पहचान नष्ट हो जाती है।

कई बार एकांत में बैठती हूं तो कैसे-कैसे दिवास्वप्न मन को घेर लेते हैं। दर्शना के ही दो रूप मानों एक-दूसरे से बातें करते हों, ऐसा मुझे सुनाई देता है :

एक—तुम कौन हो ? मैं तुम्हें पहचानती नहीं।

दो—मैं तुम्हारी जुड़वां बहन हूं।

एक—इतने दिन कहां थी !

दो—तुम जानती हो।

एक—नहीं, मैं नहीं जानती।

दो—तुम जानबूझ कर अनजान बन रही हो।

एक—पर यहां क्या करने आई हो ?

दो—मैं यह कहने आई हूं कि तुम जो समझती हो, वह तुम नहीं हो। जो तुम दिखती हो वह नहीं हो।

एक—तो मैं क्या हूं ?

दो—यह बहुत बड़ा सवाल है। तुम जीवन भर यही जानने की कोशिश

करती रहती हो। पर पार नहीं पाती हो।

एक—क्यों ?

दो—क्योंकि आदमी का मन समुद्र की तरह अथाह है। उसका दूसरा छोर नहीं दिखाई देता।

एक—तो क्या वह हर मिनिट, हर सेकिंड बदलता रहता है ?

दो—नहीं, उसके तल में एक पहाड़ छिपा है।

एक—यह कैसा पहाड़ है ?

दो—वह पानी के भीतर आग को छिपाये रखने वाला ज्वालामुखी है।

एक—क्या वह कभी फट पड़ता है ?

दो—शायद हां, शायद नहीं।

एक—तो मैं समुद्र भी हूं और पहाड़ भी हूं। और तुम्हें क्या कहना है।

दो—तुम जानते हो ?

एक—नहीं, नहीं, मैं बराबर सब घास-पात अलग करती रहती हूं। कांटे कटीली झाड़ियां दूर करती हूं।

दो—यह तुम्हारा भ्रम है। मन की सलवटें कभी नहीं पूरी तरह से हट पातीं। मन के इस पेड़ पर कई तरह की अमर बेलें लिपटी हैं। उनकी जड़ कुछ नहीं होती। पर ऊपर से इतनी आकर्षक लगती हैं। वे भीतर-भीतर सब रस चूसे' होती हैं।

एक—क्या मेरा मन ही मेरा शत्रु है ?

दो—हां शत्रु भी, मित्र भी।

एक—मित्र ? मैं केवल एक मिस्टर मित्र को जानती थी, जो मेरे आंसू देखकर एकदम घबड़ाकर भाग गये। उन्होंने आंखें फेर लीं।

दो—वे अपने आपसे भागे। अपने पाप से भागे।

समानान्तर चलने वाली रेल की पटरियां आंखों की सीमा के पास जुड़ी हुई दिखाई देती हैं।

मेरा अपने आपसे यह स्वगत संवाद चलता ही रहता था। जब भी अकेली बैठती, यह मेरी दूसरी आत्मा चुप नहीं बैठने देती। बराबर टोकती रहती

दो—तुमने अपने जीवन का क्या किया ?

एक—कुछ भी नहीं।

दो—कुछ तो करना चाहिए था।

एक—करने तो मैं गई थी।

दो—पर फिर क्या हुआ ?

एक—कई बातें थीं जिनपर मेरा वश नहीं था।

दो—जैसे।

एक—जैसे मेरी आंखें चली गईं।

दो—तुम असहाय हो ?

एक—हम सभी असहाय हैं। हम नहीं जानते कि क्यों ऐसे है ?

दो—पर सहायता कहीं-न-कहीं से आती ही रहती है।

एक—वह अनदेखी है।

दो—वह न होती तो तू क्यों जीवित रहना चाहती ?

एक—मैंने अंधेपन के काल में कई बार मौत चाही, पर वह नहीं मिली।

दो—मौत ऐसे मांगे से नहीं मिलती। वह भी एक अनदेखी है।

एक—मैंने सोचा था आत्महत्या कर लूं।

दो—जो चीज तुम दे नहीं सकते उसे लेने का अधिकार भी नहीं है। क्या तुम जीवन दे सकती हो ? फिर उसे ले कैसे सकती हो ?

एक—हां यही सोचकर मैं हिचकिचाती रही। मेरी आंखें आ गईं फ़िर भी मुझे रास्ता साफ दिखाई नहीं दिया।

दो—क्या कोई दोष था ? आंखों में या दृष्टि में ?

एक—नहीं, दिखाई तो साफ देता था, पर रास्ता नहीं मालूम था। मेरी मंजिल क्या है ? मैं नहीं जानती थी।

दो—क्या तुमने सोचा कि मंजिल कोई और दिखायेगा ?

एक—हां।

दो—तुमने किससे मंजिल मांगी ?

एक—राजनीति से।

दो—नहीं मिली। वह खुद अंधी है।

एक—विज्ञान से ?

दो—वह भी अब अंधे आवर्त में फंस गया।

एक—धर्म से।

दो—किस धर्म से ?

एक—धर्म का 'किस' क्या होता है ?

दो—पुराना धर्म या नया धर्म ?

एक—धर्म में नया पुराना कुछ नहीं होता। वह निरंतरता है। एक तरह का सतत प्रवाह।

दो—अपना धर्म या परधर्म

एक—धर्म में अपना पराया नहीं होता

दो—यह सब तुम अपने आपको बहला रही हो। धर्म ही अपने-पराये के झगड़े फैलाता है।

एक—जो झगड़ा फैलाता है उसे धर्म क्यों कहा जाये ?

यहां मैं दिशु के साथ चलने वाले मेरे पत्र-व्यवहार का अन्तिम पत्र दे रही हूं, जिससे मेरी कहानी की चरित्रहीन व्यथा का कुछ छोर लग जाये। शायद वह पत्र यों है :

प्रिय दिशु,

इस बार मैं तुम्हें यह पत्र बहुत दिनों बाद लिख रही हूं। तुम भी जब से विदेश चली गई कोई पत्र नहीं भेजा। शुरू-शुरू में एक पिक्चर पोस्टकार्ड आया था। बस। आशा है तुम मुझे भूली नहीं होगी।

इधर मेरी आंखें वापस तो आ गईं पर खुली आंखों में मैं जो कुछ देख रही हूं उससे मुझे लगने लगा कि आंखें नहीं थीं तभी मैं अच्छी थी। मैं दिन-ब-दिन दुखी होती जा रही हूं।

मुझे आशा थी कि भारत के लोग धर्म-प्राण हैं और सब समस्याओं से हम उबरकर फिर से अपना पुराना गौरवमय स्थान पा लेंगे। पर नहीं ?

धर्म-प्रवण होने के बजाय वे धर्मान्ध हो गये हैं। प्रार्थना और पूजा के पवित्र घर ऐसे-ऐसे कामों के अड्डे बन गये हैं जिनकी कल्पना नहीं कर सकती हो। जो शांति के स्थान होने चाहिए थे, वहीं सबसे अधिक अशांति है। जहां से सब को रक्षा और बचाव मिला था, वहीं से रक्षा और बचाव को धोखा पहुंच रहा है।

हमने सोचा था कि स्वतन्त्रता के समय जो कुछ रक्तपात होना था, हो चुका। अब विकास की ओर देश लगेगा। खेत लहलहायेंगे। कारखाने बढ़ेंगे। रोजगार लोगों को मिलेगा। आर्थिक आत्म-निर्भरता बढ़ेगी। पर समानता का यह सपना कभी का चूर-चूर हो गया। अमीर अमीर होते गये गरीब और भी गरीब। हम अर्थ-पूर्ण होने के बजाय अर्थान्ध हो गये।

और सबसे अच्छा मनुष्य और मनुष्य के बीच में अनुराग और प्रेम-भाव ? उस काम को, रसराज श्रृंगार को, हमने धर्म की ही तरह काम का भी हमने व्यवसाय बना दिया। हम साहित्य और कला में, समालोचना और शिक्षा के क्षेत्र में कामांध बन गये। हमारे सिनेमा हमारे सरकारी माध्यम—रेडियो और टी० वी० भी उससे अछूते नहीं। विज्ञापन और सिनेमा गीत, चित्रहार और फूहड़ कवि-सम्मेलन के चुटकुले और लोकप्रियता पाने के लिए किए जाने वाले व्यंग किस नीचे स्तर तक पहुंच गये !

हमने अपने जीवन में धर्मनिरपेक्षता के नाम पर लौकिक पर जोर दिया जो यथार्थ है उसे ही प्रधान माना। आदर्श सब हमने वायवी माने।

हम यह मानकर चलते हैं कि जो कुछ भौतिक है, वह सब हम देख सकते हैं। और वह ठोस प्रमाण काफी है। 'जो देखा उस पर विश्वास किया।'

अब धीरे-धीरे विज्ञान भी मानने लग गया है कि मनुष्य का ज्ञान अन्तिम नहीं है। इस विश्व ब्रह्मांड में बहुत-सी घटनाएं, बहुत-सी चीजें अनदेखी पड़ी हैं। इस सारे सृष्टिक्रम में सब कुछ तर्क से सिद्ध नहीं होता। तर्क से परे, संयोग या अकस्मात से भी बहुत कुछ होता रहता है। परा-मनोवैज्ञानिक इस पर बड़ी खोजें कर रहे हैं, और अभी सारे रहस्य खुल नहीं पाये हैं।

मन की शक्ति की महत्ता मैं पहले से मानती थी। अब मैं ज्यादह ही उसकी कायल हो गई हूं। जीवन में ज्यों-ज्यों मनुष्य को ठोकरें मिलती हैं, वह सयाना हो जाता है। पर यह कहावत व्यक्ति के लिए ही हो। समूह तो लगता है कभी सुधरते ही नहीं। वे बार-बार फिर गुहांधकार में, आदिम प्रवृत्तियों की ओर मुड़कर वही सब कुछ करते हैं, जिनकी असारता वे देख चुके हैं।

यह सब मैं क्या लिखने लगी? यह बताओ कि तुम कैसी हो? विदेश में तुम्हारा मन रम गया? क्या स्वदेश लौटने की इच्छा नहीं है? मैं तो अपने आसपास देख रही हूं विदेश की नौकरियों, अधिक कमाई की लालच ने सब परिवार यहां टूट गये हैं।

पड़ौस में शास्त्री जी हैं। आर्य समाजी, खद्दर पहनने वाले गांधीवादी। उनके सब बेटे अमेरिका में चले गये। वे यहां अकेले हैं। वहां एक-दो बार गये थे। पर वहां की जीवन पद्धति उनको अच्छी नहीं लगी। मां-बाप लौट आये। बेटे कभी नहीं लौटेंगे। उन्होंने विदेशी पत्नियों से शादी कर ली। वहां की नागरिकता ले ली है। सारा माता-पिता राष्ट्र प्रेम यहीं रह गया।

वही हाल कई और मित्रों का हुआ। पीढ़ियों का अन्तर तो है ही, पर कहीं-न-कहीं हमारी समाज-रचना और परिवर्तन की गति में कोई गलती है। राज्य बदलते हैं, मुगल और ब्रिटिश काल में भी सामन्ती वृत्ति कम नहीं हुई। स्वराज्य के बाद वह और बढ़ी। इसलिए हमारी ऊंची-ऊंची आदर्शवादी बातें हास्यास्पद लगती हैं। कथनी और करनी में इतनी बड़ी खाई है। सिर्फ कम्प्यूटर खरीदने से क्या होगा। उन्हें काम में लाने वाले भी तो चाहिए।

आदमी बदलने में समय लगता है। फ्रांस की राज्यक्रांति के बाद का फ्रांस का नागरिक रातोंरात बदल गया। सोवियत रूस की क्रांति को सत्तर वर्ष बीते। क्या वहां 'नया आदमी' बन गया? प्रशासनिक सुधार या सत्ताधारियों के कुर्सी परिवर्तन से समाज नहीं बदल जाते।

इसलिए दिशू, मैं आंखें पाकर भी दुखी हूं। तुम्हारे पत्र की प्रतीक्षा में हूं।

सप्रेम

दर्शना

दिशू का अमेरिका से पत्र आया।

'प्रिय दर्शना,

तुम्हारा पत्र पाकर बहुत आनन्द हुआ पर तुम्हारी मन की स्थिति देखकर खुशी नहीं हुई।

तुम इतनी बड़ी-बड़ी चीजों की, समाज और देश की समस्याओं की चिंता क्यों करती हो? क्या हर आदमी अपने छोटे-छोटे क्षेत्र तक सोचे तो काफी नहीं है?

यह पश्चिम के लोगों का विश्वास है कि मनुष्य के हर काम को उसकी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक स्थिति प्रभावित करती है। हम क्यों उनकी इस तरह की धारणा के शिकार बनें?

इधर पंजाब की खबरें बहुत बढ़ा-चढ़ाकर फैलाई जा रही हैं। लगता है पूरा पंजाब एक नरमेध का हवनकुंड बन गया है। आदमी को आदमी पर भरोसा नहीं रहा। किसी ने मुझे एक कविता की कतरन देश से भेजी है:

क्या हो गया है बाबा
ऐसा खून खराबा?
दोआबा हो या नाभा
अटारी हो या बापा
न काशी का खौफ़ रहा.
न रोकता है काबा
सुरक्षित नहीं घर, नहीं ढाबा
क्या हो गया है बाबा?

यह तुकबंदी दिखने में बहुत सपाट और सादा लगती है, पर बड़ा दर्द छिपा है इसके पीछे।

कई बरसों से यही सिलसिला चल रहा है। और कोई रास्ता इसे रोकने का दिखाई नहीं देता। बहुत अच्छे-अच्छे लोग वहां पद यात्रा कर आये। पर कहीं-न-कहीं हिंदू और सिखों के बीच परस्पर विश्वास का तंतु टूट गया है।

इसका परिणाम विदेश में रहने वाले भारतीयों पर बहुत पड़ता है। यहां के सिख सघन हैं। वे वहां धन भेजते हैं। उत्तेजित होते हैं।

आप कहेंगी विदेशी शक्तियां यह सब विभाजन का जहर हम लोगों में फैला रहे हैं, उसके पीछे हैं। फिर भी मैं कहती हूं यह कब तक ऐसे चलेगा?

लोग आखें होते हुए भी अंधों की तरह अंधाधुंध हिंसा फैला रहे हैं। पता नहीं इसका समाधान कहां है?

मैं अपनी ही बात ले बैठी। तुम पत्रोत्तर देना। अपने कार्यक्रम लिखना। आजकल क्या कर रही हो? बच्चों को पढ़ाने के काम में तुम्हारी दिलचस्पी और बढ़ गयी होगी।

और अपने साथी-मित्रों के बारे में लिखना।

तुम्हारी सहेली
दिशू

मैंने फिर जवाब में लिखा :

प्रिय दिशू,

तुम्हारा पत्र मिला—बहुत अच्छा लगा। दूर से कई चीज़ें बहुत दूसरी तरह की दिखाई देती हैं। पास से उनका दृश्य दूसरा होता है। पंजाब पर तुम चिंतित हो, हम भी हैं। पर अभी भी हिंदू-सिख-मुसलमान बड़ी संख्या में मानवीय गुणों से भरे हैं। वे शांति चाहते हैं। सिरफिरे थोड़े ही होते हैं। पर उनका क्या करें यह समझ में नहीं आता।

सुभाषितकार कह गये हैं :

ऐश्वर्यं तिमिरं चक्षुः पश्यच्चापि न पश्यति
पश्चाय विमलतां याति दारिद्रय पुलिकांजनैः

ऐश्वर्य के अहंकार से अंधी आंखें देखकर भी नहीं देखती, दारिद्रय के अंजन से स्वच्छ होने पर वे फिर देखने लगती हैं।

मेरे भीतर का द्वंद्व कभी पूर्व और पश्चिम के रूप में, कभी भूत और भविष्य के रूप में, कभी प्रकाश और अंधकार के रूप में बार-बार मुझे मथता रहता है। कभी वह मानव जीवन के पुरुष और स्त्री तत्त्व के रूप में सामने आता है। कभी मिथक और यथार्थ के रूप में। यह अन्दर और बाहर, घर और बाहर, मौन और कोलाहल का द्वंद्व शायद हमारी सांसों के साथ जुड़ा है। एक सांस भीतर जाती है। एक बाहर आती है। प्राण-चक्र चलता रहता है। वह कब रुका है!

मुझे अंधों के काम में काफी दिलचस्पी आ रही है। मैंने और सब काम छोड़ दिये हैं। सारी शक्ति इसी काम में लगा रही हूं।

लिखना पढ़ना जारी है। पुराने मित्र सब छूट गये हैं। इसलिए उनके बारे में क्या लिखूं?

सचमुच मनुष्य के बदलने का कोई जादुई मंत्र नहीं है।

तुम्हारी
दर्शना

इस पर फिर दिशू का पत्र आया :

प्रिय दर्शना,

तुम्हारा पत्र मिला।

पर उससे मेरा समाधान नहीं हुआ। इस अमेरिका जैसे विकसित देश से हमारे भारतीय लोगों को कुछ सीखना चाहिए।

यहां बड़े-बड़े शहरों में, न्यूयार्क और शिकागो में ऐसे-ऐसे हिस्से हैं जहां दिन-

दहाड़े कत्ल और लूटपाट, बलात्कार और क्या-क्या नहीं होता। नशे में धुत कई बिलकुल गरीब तबके के 'काले' या पोर्टोरिकन या ऐसे ही बाहर से आये लोग भूगर्भ रेल तक में यह कारनामे करते हैं। कई उनमें तरह-तरह के भीषण नशों के आदी हैं। नशे के लिए पैसा चाहिए। फिर वह चोरी या पाकिटमारी किसी भी ढंग से मिले।

मां-बाप तलाक ले लेते हैं। बच्चे आवारों की तरह घूमते हैं। उनमें कई तरह के मानसिक और शारीरिक रोग घर करते हैं छोटी-सी उम्र में। कई उनमें असामाजिक तत्वों के शिकार हो जाते हैं।

यहां का साहित्य और कला ऐसी विकृतियों को 'व्यक्ति स्वतंत्रता' के नाम पर तरजीह देती है। वे कहते हैं नीति-अनीति क्या होती है? आदमी को आत्महत्या का अधिकार होना चाहिए? यहां कई तरह के तथाकथित पौर्वात्य मत-पंथ, गुप्त-समाज लोकप्रिय हो गये हैं। तन्त्र-मंत्र वाले मजा कर रहे हैं।

मैं भारत की छवि यों धूमिल होती देखती हूं। और कांप उठती हूं। मेरी अच्छी बात कोई नहीं सुनता। वे कहते हैं—यह सब तुम्हारे मन का फितूर है। 'मेंटल कंस्ट्रक्ट' है।

मैं क्या करूं।

कविता लिखना मैं भूल गई हूं। जीवन यहां का इतना यांत्रिक है कि मैं समझ नहीं पाती इस तरह पैसे कमाने की मशीन बनकर मैं मनुष्य भी रह पाऊंगी या नहीं? मैं भी एक विराट् कारखाने के कलपुर्जे की तरह हो गई हूं।

पर तुम जरूर पत्र लिखती रहना।

सप्रेम
दिनू

मैं इस पत्र को पढ़कर सन्न रह गई। यहां दिनू कितनी भावुक, सुकुमार मिजाज, कविताएं लिखनेवाली थी। वहां विदेश में जाकर वह कैसे व्यवहार-कुशल और इतनी रूखी हो गई? क्या वहां की जीवन-शैली, उस तरह की तेज जिन्दगी का वेग आदमी को एकदम मशीन जैसा बना देता है? वहां मनुष्य-मनुष्य के बीच सौहार्द शायद सूख गया। ठीक हमारे महानगरों की तरह। यहां भी संवेदना का अभाव कितना बढ़ गया है!

हम सब फिर उसी मूल-पथ की ओर जाना चाहते हैं सहकारिता और एकता की ओर—

वैज्ञानिक और दार्शनिक भी मानव जाति को खंडित नहीं देखना चाहते।

इतिहास भी पूर्व और पश्चिम की समझदारी को एक जगह जमा करने की बात कहते हैं।

अरनाल्ड टॉयनबी जैसे विश्वविख्यात इतिहासकार ने कहा था कि—

"पश्चिम ने जिस अध्याय को शुरू किया है, उसका अन्त भारतीय ही होगा, नहीं तो वह आत्म-संहार कर लेगा, सारी मानव जाति नष्ट हो जायेगी···मानव-सभ्यता के इतिहास में यह सबसे संकटपूर्ण क्षण है, इस समय मानव-जाति के उद्धार का, मुक्ति का एकमात्र उपाय है सम्राट अशोक और महात्मा गांधी की अहिंसा और रामकृष्ण परमहंस का सब धर्मों की एकता और समभाव का दर्शन-अनुभव। इसी तरह से मनुष्य जाति एक कुटुंब की तरह सुख और संतोष से जी सकेगी। आणविक युग में यही एक विकल्प है।"···

मैं क्यों अकेली दुखी बनूं ? सारी दुनिया की यही नियति है क्या ?

क्या यह मेरी नियति है या कोई अनदेखी भाग्य-रचना, यह अभिशाप मेरे ही ऊपर क्यों है।

मेरे ऊपर सभी लोग जो सहानुभूति दिखाने लगे कि मुझे याद आया 'फिराक़' गोरखपुरी का शेर :

निगाहे-यार कुछ ऐसी फिरी हिज्रां-नसीबों से
कि अब तो जिसका जी चाहे, वही ग़मख्वार हो जाये

16

अब अपनी कहानी कहते-कहते मैं थक गई हूं।

शायद अपनी कहानी कहते-कहते मैंने कई औरों की कहानी भी कह डाली। कहने में ऐसा ही हो जाता है—कहते-कहते हम क्या-क्या कह डालते हैं। शायर ने ठीक ही कहा था—

'बक रहा हूं जुनूं में मैं क्या-क्या'

मैं किसी जुनून में नहीं थी। मैंने सोचा कि कहानी कहते-कहते मैं अपने मन की गांठ खोल पाऊंगी। पर डोर उलझती ही गई, जितनी मैं सुलझाने में लगी रही। कहानी में से कहानी निकलती गई—और लगता है मैं उसे समेट नहीं पाई। समेटना मेरा काम भी नहीं था।

हम चले थे शुरू में यथार्थ के एक स्तर से।

फिर हम कहीं अ-यथार्थ में खो गये। उस प्रतिक्रिया में से एक तीसरा नया यथार्थ-बोध सामने आया। यही सब जगह होता है। जो हमारे आसपास है वह

सब ठोस और वास्तव है ऐसा हम मानते हैं। पर जितने उसके निकट जाओ वह वैसा नहीं रहता। शायद जिस यथार्थ से शुरू किया था उसी में कल्पना, अनुमान, अपेक्षा सब मिली हुई थी। वह वस्तु का वस्तुनिष्ठ यथार्थ नहीं था। वह हमारी नज़र से देखा गया एक खास तरह का रंजित यथार्थ था।

शायद शुद्ध यथार्थ हम कभी जान ही नहीं पा सकते।

जानना किसी इंद्रिय के द्वारा होता है। और उसमें उन साधन का भी रंग जुड़ जाता है। यानी उस साधन की भी सीमा है, सामर्थ्य है, सापेक्षता है।

अब यह मेरी आंखों का ही देखिये न। मैं यह मानकर चली थी कि आंखें मिलेंगी, खुशी मिलेगी।

पर क्या हुआ? शायद उल्टा ही हुआ।

आंखें तो बेजुबा होती हैं। वे कुछ न कहकर भी कितना कुछ कह जाती हैं।

अगर दोनों आंखें एक-दूसरे से मिल पातीं। और उनमें संवाद हो पाता, तो वह कुछ इस तरह से होता—

1—क्यों री इतने पास रहकर भी कभी मिली नहीं? इतना गरूर!

2—तेरे लिए भी तो मैं यही कह सकती हूं।

1—तू तो बैंमी ही बाईं है। फड़कने लग जाये तो लोग बुरा सगुन मानते हैं।

2—हम दोनों सब बातों में एक जैसी हैं। यहां तक कि रोना आता है तो दोनों को एक साथ गीला होना पड़ता है। हम जुड़वा बहनें हैं। एक की जोत कम हो तो दूसरी पर उसका असर पड़ता है। यह तो संयोग की बात हुई कि मैं बाईं तरफ हुई, तू दाहिनी।

1—तो उससे क्या? लोग जो मानते हैं वही तो सही है।

2—लोग तो कई तरफ की झूठी बातें मानते हैं। वे कहते हैं कुछ आंखें ही खराब होती हैं। किसी पर नज़र पड़ जाये तो बुरा असर होता है।

1—यह अच्छा-बुरा कौन तै करता है?

2—लोग।

1—और वे ही पहले से बदनाम करके एक को चढ़ाते हैं, बढ़ाते हैं। दूसरी को गिराते हैं। यह कहां का न्याय या धर्म है?

2—पर यह झगड़ा छोड़। क्या हम इसलिए मिले हैं कि झगड़ा करें?

1—नहीं हम मिलते रहे हैं, पर दूसरे के सहारे। ये आईने, ये दर्पण, ये पानी और चमकते पत्थर या सतहें क्या हैं? जहां पूरा चेहरा देखा, दोनों आंखों का उनमें प्रतिबिंब पड़ा। और वहीं दोनों। दोनों को देख लिया।

2—वह देखना नहीं, देखने का आभास है। किसी से मिलना और किसी की तस्वीर देखना क्या एक ही बातें हैं?

1—तुम ठीक कहती हो। शायद इसमें भी प्रकृति का कोई हिस्सा या राज

होगा कि आंखें एक-दूसरे से मिल नहीं पाती हैं।

2—पर जो भी काम करना हो, देखने का या न देखने का वह सब दोनों मिलकर ही तो करती हैं।

1—यह बात सच है।

2—प्रत्यक्ष भी, परोक्ष भी—दोनों में अक्ष है।

1—अक्ष से ही आंख बनी!

2—देखते-देखते हमें लगता है कि हम देख नहीं रहे हैं। जो देख रहे हैं, वह हमसे जैसे दूर हो गया है। और हम वही देख रहे हैं, जो देख चुके हैं, या हम सिर्फ अपने देखने को दोहरा रहे हैं।

1—वैसे तो कहा यह जाता है कि जहां एक बार आंख पड़ी, वहीं दूसरी बार नहीं जाती। तब तक चीजें बदल चुकी होती हैं।

2—अब यह दर्शना को ही देखो।

1—क्यों?

2—अब यह दर्शना वैसी दर्शना नहीं रही

1—क्या हो गया उसे? मुझे तो वह वैसी ही लगती है। ऊपर से वैसे ही।

2—शरीर से वह वैसी ही भले हो, मन से नहीं है।

1—तुम कैसे कह सकती हो?

2—देखो उसकी दृष्टि ही बदल गई

1—दर्शना पहले जिस उत्सुकता और जिज्ञासा से देखती थी अब नहीं देखती

2—क्यों? ऐसा क्या हुआ?

1—उसकी दृष्टि के पीछे जो 'दर्शन' था वह बदल गया।

2—सो कैसे?

1—अब वह भोली नहीं रही। अब वह आसानी से हर किसी पर विश्वास नहीं करती।

2—उसे जीवन में धोखे पर धोखे जो मिलते गये। जिस पर विश्वास किया वही विश्वासघाती निकला

1—नहीं यह बात नहीं है—विश्वास करने के भी कई ढंग होते हैं। एक अंधा विश्वास है, जिसमें हम सब कुछ दूसरे पर डाल देते हैं।

2—दूसरा वह विश्वास है कि जिसमें हम आंखें खुली रखकर चौकस रहकर विश्वास रखते हैं।

1—क्या यह संभव है कि हम हृदय से किसी को चाहें और उसके बारे में एक कोने में कहीं संदेह भी पालें।

2—देखो, पलकें मूंदने पर भी बाहर का प्रकाश हमें ज्यादह या कम होता

हुआ दिखता है न ?

1—पर अगर पलकें नींद से झुकी हों, या उन पर किसी अचेत कर देने वाले नशे या दवा का असर हो, तो ?

2—तो क्या प्रेम इस तरह का 'हिप्नोसिस' है ?

1—मैं तो ऐसा ही मानती हूं। वह क्षणिक आत्म-विश्वास तो है ही।

2—दर्शना के साथ यही होता रहा।

1—हममें प्यार में तिरस्कार भी जुड़ा होता है : एक के लिए प्यार तो शेष के लिए तिरस्कार।

2—क्या यह जरूरी है ?

1—अपना-अपना 'स्व'-भाव है। किसी के स्वभाव में 'पर'भाव होता ही नहीं। आत्मा पर सब एकाकार होते जाते हैं।

2—और किसी के पग-पग पर 'यूयम् यूयम्, वयम् वयम्' (तू तू है, हम हम हैं) यह भेद बना रहता है।

1—जिसमें भेद बना रहे वह क्या प्यार ?

2—यह भक्ति नहीं है, प्रेम है।

1—भक्ति तो भेद और अभेद की चिंता से परे होती है।

2—नहीं मनुष्यों के बीच में भक्ति, भक्त और भगवान के बीच का 'अचित्य-भेदाभेद' नहीं है।

1—वह भक्ति नहीं आसक्ति है। केवल आसक्ति। रूपासक्ति, गुणासक्ति, आदि उसकी सीढ़ियां, कई प्रकार होते हैं।

2—बहन, क्या आसक्ति रक्त में समाई हुई नहीं है ?

1—हां वह हर इंद्रिय की उत्कटता का दूसरा नाम है

2—पर मनुष्य में यह भी तो एक शक्ति है कि वह उससे परे जा सके। उस आसक्ति पर निग्रह रखे।

1—पर हर एक के बस का काम नहीं है। पानी का धर्म नीचे की ओर बहना है, इंद्रियों का धर्म बाहर की ओर कहीं-न-कहीं अपना जुड़ाव चाहना है।

2—हम आंख की बात कर रहे हैं। क्या शून्य गगन की ओर आदमी ताकता नहीं रह जाता ? वहां वह क्या देखता है ?

1—वह अपनी आंखों की नीलिमा का ही विस्तार देखता है, शायद। इसीलिए कवि ने कहा—'आंखों का नीलाकाश•••'

2—तुम्हारी आंखों का नीला नभ
खो गया उसमें मेरा खग

1—नहीं-नहीं। मैं कहती हूं कि शून्य भीत पर 'बिनु रेखा बिनु रंग' चित्र बनाने वाले भी होते हैं।

2—उन्हें मर्मी, दृष्टा कहते हैं। वे कहीं-कहीं अपवाद की तरह हैं। वह संतों की 'ख'-सम को खसम मानने की स्थिति है। हम तुम्हारे-हमारे जैसे साधारण आदमियों की, औरतों की बात कर रहे हैं। वहां यह 'अदृष्ट' और 'अनदेखा' बराबर देखते जाने वाली, अनहद (अनाघात) नाद को सुनते जाने वाली बात लागू नहीं होती। फिर हम बात को वहीं लाये जहां से हमने शुरू किया था। आंख तो देखेगी ही।

1—क्या देखेगी, यह उसके हाथ में नहीं है। क्या वह चुनाव कर सकती है कि हमेशा अच्छा ही अच्छा देखे। बुरा वह कभी नहीं देखे। क्या यह संभव है ?

2—सुख दुःखमिश्रित इस संसार में यह संभव नहीं है।

1—तो फिर आंख का काम हुआ चुनना। अच्छे और बुरे का विवेक करना। वही मन में स्मृति की तरह ले जाना और संभावना जो वह चाहती है कि आगे भी काम आयेगा। आपसे आप इस इंद्रियरूपी छलनी से वह सब छनता चला जाता है, जो हम नहीं चाहते कि हम टिकाये रखें।

2—अगर वह इतना सहज है, आपसे आप हो जाने वाली प्रक्रिया है तो फिर उस पर इतनी चिंता क्यों ?

1—इसलिए कि देखने से परे भी कोई देखना है, जिसकी बात सिर्फ परा-मनोवैज्ञानिक नहीं, अब भौतिक शास्त्री भी मानने लगे हैं।

2—तुम हर चीज को रहस्यमय बना देने की आदी हो चुकी हो। विज्ञान का मतलब ही है चीजों को साफ-साफ समझना प्रकाश की तरह स्पष्ट करना। और तुम उसमें भी यह धुंधलापन, अस्पष्टता क्यों लाती हो ?

1—क्योंकि जिसे हम स्पष्ट कहते हैं वह क्षणिक है, वह अस्पष्टता के महा-संवत्सर से घिरा है। जिसे तुम सब कुछ समझ में आने वाला मानती हो, वहां 'समझ' की भी सीमा है और समझ में आने की क्रिया की भी।

2—इस तरह से हम शब्दों के गोल-गोल घटाटोप में चक्कर काटते जायेंगे। क्या तुम मानती हो कि आधुनिकतम विज्ञान ने अंतरिक्ष पर विजय पाकर कुछ हासिल नहीं किया।

1—हां, अपने अज्ञान की सीमाओं को और बड़ा बनाया। हमने यह और जान लिया कि हमें और भी बहुत जानना है, चूंकि अनजान बहुत ही बड़ा और जानने के परे का परिधिहीन विस्तार है।

2—आइन्स्टाईन से काप्रा तक यही बात वैज्ञानिक दोहराते हैं कि भौतिक जिसे हम कहते हैं, उसकी मर्यादा है। पंच महाभूतों से 'भौतिक' बना। पर भूत का हमारा ज्ञान भूतकालिक बनता चला जाता है। भविष्य और भी है, जो अभूतपूर्व है। 'न भूतो न भविष्यति' है।

दर्शना इस तरह से अपनी ही दो आंखों को प्रतीक बनाकर पता नहीं क्या-

क्या सोचती चली जाती। इतना स्पष्ट था कि दर्शनशास्त्र और भौतिक विज्ञान की अस्पष्टताओं की सीमाएं परस्पर निकट आती जाती थीं।

जापानी कवि कहता था कि

दुनिया ओस है
दुनिया ओस है
फिर भी···

यह 'फिर भी' अनन्त है और विलक्षण है।

कई बार दर्शना ने सोचा कि अपने जीवन की पोथी के अब तक के सब पुराने पन्ने बन्द कर, 'सील' कर, एक नया पन्ना खोलकर, फिर नयी शुरुआत करे।

पर मानकर चले कि जीवन एक कोरी किताब है, जिसमें और कई संभावनाएं हैं। और बहुत कुछ आंका जा सकता है। लिखा जा सकता है। बेहिसाब नये सवाल हैं, जिनके हल ढूंढ़ने हैं। सबके उत्तर 'कंप्यूटर' ने नहीं दे दिये हैं।

कांट ने कहा था—"आकाश के ये अनगिनत तारे और मेरे भीतर का यह सत् और असत् का विवेक—ये दो पहेलियां, मेरे लिए एक जीवन काफी नहीं है, सुलझाने के लिए···"

यही सब सोचकर दर्शना ने अब एक नई संस्था बनाई है जिसमें वह काम करती है। यह संस्था गरीब तबके के लोगों में, अनपढ़ लोगों में आंखों के रोगों से बचने का शिक्षण स्वैच्छिक ढंग से अपनाती है। उन्हें दिखाने के लिए छोटी-छोटी फिल्में ले जाती है। कुछ आंखों के युवा डाक्टर भी उसकी सहायता कर रहे हैं। इस सेवाकार्य ने उसे अपनी बहुत-सी समस्याओं से राहत दी है।

रचनात्मक कार्य ही निराशा से बचने का एकमात्र रास्ता है। अब दर्शना को न अकेलापन सताता है। न वह दार्शनिक पुस्तकें पढ़कर मृत्यु की समस्या से जूझती रहती है मानसिक रूप से।

यह सही है कि मृत्यु एक अनदेखी चीज़ है। पर यहां ऋग्वेद की एक ऋचा पढ़कर मुझे लगा कि मेरे कई प्रश्नों का उत्तर सहसा मिल गया। ऋग्वेद के नवम मंडल में 101 वीं ऋचा है :

प्र सुचानस्यान्ध सो
मर्तो न वृत तद् वचः

—"अन्धस् की वाणी का मर्त उच्चारण नहीं करता है।" यह तो हुआ शाब्दिक अर्थ। पर उस पर भाष्य है :

अन्धस् का अर्थ है रस, सोम, अमृत।

एक अमर रस है, एक अमर सोम है, एक अमर अमृत है, जिसे अंधस् कहते हैं। वह अन्धस्, हृदयनीड़ में अधिष्ठित आत्मा में क्षरित होता है।

उसीका पान करके ब्राह्मी स्थिति में स्थित आत्मा में से परम सत्य के प्रकाश

का शब्द प्रस्तुत होता है। उसे अन्धस् वाणी कहते हैं।

मर्त नाम है मरणशील साधारण मनुष्य का। फारसी का मर्द मर्त का ही अपभ्रंश है।

साधारण मनुष्य अन्धस् की वाणी की कामना नहीं करता है। कामना तो क्या वह उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता है। उस वाणी को बोलने की बात तो बहुत दूर की है।

अन्धस् की वाणी की प्रेरणा उसी मानव के अन्तःकरण में होती है जो 'सोम-निष्पादन' करता है। साधना से ही वह उस परावाणी का क्षण या उच्चारण कर सकता है। यह परावाणी ही सत्य की सुप्रकाशिका है।

मानव समाज से कृपण श्वास को भगा दो। खाने-पीने की योग्य वस्तुओं की खोज में घर-घर जानेवाला यह अन्धस् 'श्वा' है। यह भोगवृत्ति मनुष्य को कंजूस बनाती है। यह वैखरी वाणी से बोलने वाले उपदेशक तो वृथा बोलते हैं। इसीलिए इनकी वाणी में वह प्रभाव नहीं है।

यह पढ़कर मुझे संतोष मिला हर मनुष्य मरनेवाला है, यह सही है। पर परा वाणी उसे मरण से परे ले जाती है। पर यह परा वाणी मुझे किसी कर्मकांड वाले धर्म में नहीं मिलेगी। वह कर्म में से, सेवायें से ही मिलती है।

मैं गांव में जा रही थी। वहां एक प्रायः अंधी होने वाली बुढ़िया ने जो बात कही उससे यही पुरानी अमर्त्य ध्वनि निकलती है। बुढ़िया ने कहा—बेटी, क्यों तुम कोशिश कर रही हो। मेरी आंखों की रोशनी अब बुझने वाली है। बेकार है उसके लिए चिन्ता करना।

मैंने कहा—ऐसा ही मैं अपने बारे में सोचती थी। पर मैंने अपनी अंधता पर विजय पाई।

बुढ़िया—बेटी, आप बड़े लोग हैं। आपके पास पसे हैं आपरेशन गरीब लोग यह सब कैसे कर सकते हैं।

मैं—इसीलिए यह संस्था बनाई है। अब यह पता लगा है कि सभी अंधे-असाध्य रोगी नहीं होते। उन्हें नई आंखें दी जा सकती है। उनके लिए यह संस्था है। तुम हां कह दो मां!

बुढ़िया हंसी, जिसमें उदासी अधिक थी—अब मेरे जीवन के कितने वर्ष बाकी हैं। मैं आंखें पाकर भी क्या करूंगी यह आंखें बच्चों को दान दे देना बेटी।

और वह चली गई।

आज भी हमारे देश में यह त्याग है। आज भी वैखरी पर परा वाणी विजयी होती है। आज भी हमारा देश पश्चिम की भोगवादी संस्कृति का अंधा अनुकरण नहीं कर पा रहा है। आज भी हमारे गांवों में अच्छे लोग बस रहे हैं। आज भी हमारे महानगर हमारे समाज को घुन की तरह या परोपजीवी पौधे की तरह

अमरबेल नही बने हैं।

आज भी इस जमीन के भीतर कई अंतःसलिलाएं हैं जो अनदेखी हैं। आज भी मनुष्य पूरी तरह मशीन नही बना है।

पर मैं अपनी कहानी कहते-कहते यह सब ज्ञान-विज्ञान चर्चा क्यों करने लगी। इसलिये कहानी कहना मेरा उद्देश्य भी नही था। कोई भी कहानी अपने-आपमें कोई मानी नही रखती जब तक वह हमारे जीवन और जगत् से जुड़ी नही हो। सिर्फ बाहर की दुनिया का तमस हमें नही उकसाता, भीतर के अंधेपन को भी हमें नई आंखें देनी हैं।

यह बात दूसरी है कि आखें पाना ही काफी नही है। आखें पाकर भी कुछ लोगों के दुःख कम नही होते। आखें केवल खिड़कियां हैं। प्रकाश और हवा भीतर उन गवाक्षों से आती हैं। पर दृष्टि की शक्ति बहुत जरूरी है।

मुझे लगता है आज अस्सी प्रतिशत जो कुछ लिखा-बोला पढ़ा जा रहा है वह एकदम दृष्टिहीन है। अंधे-अंधों को राह दिखा रहे हैं। सारा धर्मक्षेत्र, सारी राजनीति, शिक्षा और साहित्य इस तरह के अंधेरे से अटी-पटी पड़ी है। और हम में से अनेक इस बात से बेखबर हैं, अंधे हैं। जानकर भी अनजान बन रहे हैं।

इन सब 'अनदेखी' बातों को बताने मैंने अपनी कहानी सुनाई। डायरी के अंश दिये। कविताएं बीच-बीच में दी। अपने सपने सुनाये। यह सिर्फ देखादेखी नही है। यह आख मिचौनी का खेल नही है। यह कोशिश है कि शायद किसी को थोड़ी दृष्टि मिले। राह मिले, दिशा मिले…

क्या आंखों वालों के दु:ख अंधों के दुःखों से अलग हैं? या एक जैसे हैं। कहना कठिन है। दु:ख की कोई तरतम्यता नही—हमने मान लिया है कि ऐसा कुछ होता है।

दुख का अहसास ही आखें खोल देता है।

देखने न देखने से परे

(भूमि, आधार)

अन्धस्य मे हृतविवेक महाधनस्य
चोरैः प्रभो बलिभिरिन्द्रियनामधेयैः ।
मोहान्ध कूपकुहरे विनिपातितस्य
लक्ष्मी नृसिंह मम देहि करावलम्बम् ॥

—आदिशंकराचार्य

(इन्द्रिय नामक प्रबल चोरों ने जिसके विवेकरूपी परम धन को हर लिया है तथा मोहरूपी अन्धकूप के गड्ढे में जो गिरा दिया गया है, ऐसे मुझ अन्धे को, हे लक्ष्मी नृसिंह आप अपने हाथों का सहारा दीजिये।)

हम सब जिन्हें आखें हैं, देखते रहते हैं।

पर मैं सोचती हूं कि इस संसार में सचमुच में जीवन-दृष्टि है, ऐसे लोग बहुत कम होते हैं।

हम स्त्रियों में तो, लोग कहते है, दृष्टि होती ही नहीं। वे भावना से अधिक काम लेती हैं। इसलिए वे निरा प्रेम करना जानती है, या उसके उलटे घृणा। और दोनों ही अंधे होते हैं। ग्रीक लोग तो अपना प्रेमदेवता, क्यूपिड, आंखों पर पट्टी बंधा हुआ अंधा शिकारी बालक जैसा दिखाते हैं।

मैं यह सब क्यों लिख रही हूं? क्या लिखने से मुझे कोई दृष्टि मिली है कि मैं आगे का अपना पथ देख सकू। उस पर चल सकूं।

नहीं, मेरा मानना यह है कि आंखें सिर्फ देखने के लिए नहीं होतीं। वे सिर्फ ग्रहण ही नहीं करतीं। वे देनी भी हैं। और वह जो उनसे झरता है, वह अश्रु-जल ही उनका दान है। वह उनकी अपने-आपको प्रकट करने की उतावली है।

आंखें सिर्फ क्रोध से तप्त ही नहीं होतीं, वे द्रवित भी होती रहती हैं। क्रोध और करुणा दो परस्पर-विकार या स्वभाव उसमें समाये हुए हैं। वे अनन्त नीलाकाश को अपने में समाये हुए हैं। और वैसे सच कहूं, कई छोटे-छोटे से परमाणु भी वह अपनी नयी आखो से देख नहीं पाती। उसे खुर्दबीन की जरूरत होती है।

दूर का और पास का देखने के दो अलग-अलग मापन इन आखों ने निश्चित किये। पर सच बात कहूं, यह भी सिर्फ आख के परिप्रेक्ष्य का ही यह चमत्कार है कि दूर का भी पास लगने लगता है। और कई बार पास का भी इतने दूर चला जाता है। अक्सर बहुत पास का आख से ओझल ही रहता है।

हम सब जिन्हें आंखें हैं, असल में कहा देखते रहते हैं?

देखने और न देखने से परे कोई चीज जहा जाकर आखें ठिठक जाती हैं। आंखें उसके लिए ना-काफी हैं।

दार्शनिकों ने कहा चर्म-चक्षु काफी नहीं, उसके लिए अतःचक्षु, दिव्य चक्षु आदि कई रूप दिए।

संतों और धर्मियों के जीवन में ऐसी दृष्टि का संकेत और उल्लेख बार-बार आता है—'हद बेहद दोनों गया, कबिरा देखा नूर ...'

पर मैं तो न ही कोई संत हूं, न जीवन में मुझे ऐसा कोई संत ही मिला है, जो 'दृष्टा' हो। मैंने तो जितनी इन बड़े लोगों की जीवनियां पढ़ी—मुझे उनकी ऊंची और आदर्शवादी और महान् दृष्टि में कहीं-कहीं 'अंध स्थान' (ब्लाइंड स्पॉट) दिखाई दिया। हो सकता है यह मेरा दृष्टिदोष हो। पर भारत के महा-पुरुष ही लेती हूं, एक-एक कर बीसियों उदाहरण मेरे सामने हैं, मैं उनका कोई समाधान नहीं पाती :

राम ने सीता का निष्कासन क्यों किया ?

विश्वामित्र ने मेनका से उत्पन्न शकुन्तला का पिता होना क्यों अस्वीकार किया ?

कृष्ण ने रथ का पहिया क्यों उठा लिया और कई बार झूठ का आश्रय लिया ?

बुद्ध को अपनी पत्नी को चुपचाप छोड़कर क्यों जाना अच्छा लगा ?

अर्जुन ने जरासन्ध को क्यों कपट से मारा ?

द्रौपदी की बात को धर्मराज ने क्यों नहीं सुना ? उसके तर्क अकाट्य थे क्या ?

पृथ्वीराज को जयचंद ने क्यों धोखा दिया ?

सोमनाथ को इतनी बार गजनी ने क्यों लूटा ?

औरंगजेब ने भाई की हत्या और पिता को जेल में क्यों रखा ?

शिवाजी की अपने पुत्र संभाजी से क्यों नहीं बनी ?

झांसी की रानी को गोरा अंगरक्षक क्यों रखना पड़ा ?

राजा राममोहन राय की मृत्यु के बाद उनके गले से जनेऊ क्यों निकला ?

केशव चन्द्र सेन ने अल्पवयीन स्त्री से विवाह क्यों किया ?

रामकृष्ण परमहंस को गले का कैंसर क्यों हुआ ?

कई क्रांतिकारक बाद में इतने संकीर्ण या राजनीति से परे क्यों हो गये हैं ?

गांधी ने अपने पुत्र हरिलाल के साथ अन्याय क्यों किया।

सुभाषबाबू देश से छिपकर क्यों चले गये ?

कई नेताओं ने देश विभाजन न करने की प्रतिज्ञा करने के बाद उसे कैसे सम्मति दे दी ?

और पुराण और इतिहास के ये सारे प्रश्न छोड़ भी दें तो स्वराज्य के बाद हमारी दृष्टि बराबर साफ रही—देश की ओर ही रही ? या देह की ओर चली आई ?

अपनी-अपनी देग, अपनी-अपनी खिचड़ी, अपना-अपना चूल्हा, अपना-अपना चावल—यह सब कैसे हो गया ?

दृष्टि के विस्तार और संकोच पर अनंत कारण मीमांसाएं लिखी गईं। पोथन्ने रंगे गये। पर सच बात तो यह है कि मनुष्य कहीं भी नहीं पहुंचा।

आज भी हम गलतियों पर गलतियां करते जा रहे हैं। और कोई 'सूरत नज़र

नहीं आती।'

ऐसी निराशा की हालत में मैं यह पंक्तियां लिख रही हूं। तब किसी ने मुझसे कहा कि यह भी एक दृष्टि है। इसे आत्मालोचन कहते हैं।

होगा। ऐसा ही होगा। दृष्टि और अन्तर्दृष्टि से परे क्या है, यह मैं जानने का यत्न करने लगी तो मेरे हाथ यह कुछ बातें आईं।

पहला प्रश्न है देखता कौन है ?

दूसरा प्रश्न है वह देखता क्या है ?

तीसरा प्रश्न है क्या यह क्रिया यहीं तक रुक जाती है ? या इससे आगे भी कुछ है ?

देखने वाला या देखने वाली मनुष्य है। यानी उसकी चेतना का यह एक अंश है। देखना पंचेन्द्रियों से मिलने वाले अनुभव का सिर्फ एक हिस्सा है ?

तो क्या हमारी दृष्टि से पहले की चेतना उसे प्रभावित करती है ? बच्चा जब देखता है तो क्या पहचान लेता है ? उसमें एक रंग से दूसरे रंग का फर्क करने का ज्ञान बहुत बाद में पैदा होता है। पर वह देखते ही पहचान लेता है कि यह वस्तु या व्यक्ति प्रिय है या अप्रिय है। देखना उसकी भावना से रंगा हुआ होता है। वह मां को जिस तरह से देखता है, वैसे हर दूसरी स्त्री को नहीं देखता। खाने की चीज को वह देखता है वैसे ही खिलौने को नहीं देखता। और बचपन के ये संस्कार क्या हमारे अगले सारे देखने को रंजित नहीं करते ?

अब देखने में भी दो रूप हैं : एक सहज जो दिखाई पड़े और दूसरा जो चुन-कर अपनी इच्छा से निर्णय रूप से देखा जाये। पहली स्थिति में देखने वाला निष्क्रिय है। दूसरी स्थिति में सक्रिय। इसमें अब भावना और रुचि ही नहीं संकल्प या चुनाव भी शामिल हो गया। मैं अगर चाहूं कि बुराई न देखूं तो वैसा भी कर सकती हूं। और अगर चाहूं कि बुराई ही बुराई देखूं तो वैसा भी कर सकती हूं। क्या इस देखने में पूर्वग्रह भी निश्चित रूप से जुड़ा हुआ रहता है ?

फिर देखने में एक और आयाम है दृष्टि के टिकने का। दृष्टि के बार-बार उधर जाने का। या तो उड़ते-उड़ते देख लिया—'देखता चला गया' के अंदाज में, या 'देखते देखते' कुछ ग्रहण कर लिया। दूसरा है गहराई में देखना, सब ओर से देखना, खोज की दृष्टि से देखना, निरीक्षण, पर्यवेक्षण, सर्वेक्षण, अन्वेषण, समीक्षण, परीक्षण आदि आदि।

फिर मेरे अन्दर जो संस्कृत की छात्रा छिपी बैठी है वह धातुप्रत्ययों को लगा-कर शब्दों के महीन अर्थों में खोने लगी।

मुख्य बात यह है कि देख क्या रहे हैं ?

वस्तु, जीव, प्रकृति, मनुष्य, प्रतीक, संकेत, संगीत—इकाई या सम्मिलित रूप में बिंब, प्रतिबिंब या केवल छटा, छाया, आभास, स्वप्न, काल्पनिक चित्र ? हम

कुछ को न-कुछ बना डालते हैं। न-कुछ को कुछ का कुछ। यह सब कौन करता है? आंख? या उसके पीछे का दिमाग? या हमारा समूचा व्यक्तित्व, मनोवृत्ति या बुद्धि, शक्ति, या अहंकार या अन्य कोई तन्मात्रा···

बहुत सूक्ष्म दार्शनिक मीमांसा में पड़ गई मैं—ज्ञान शास्त्र की अपनी कहानी कहते कहते मैं किस रहस्य लोक में आ पहुंची?

अब मुझे लगने लगा है कि जो स्थूल घटनाएं हैं, नाम हैं, प्रसंग हैं, जिसे हम यथार्थ और वास्तव कहते हैं, वे सब दोयम हैं।

असली चीज यही रहस्य है, जो देखने न देखने से परे है। क्योंकि वही हमारी सब दृष्टियों को अपने में समाये हुए है।

नेत्र विशेषज्ञ आंख की रचना, रोग, अन्य शारीरिक क्रियाओं से उसका संबंध देख लेंगे। पर क्या वे राम और रहस्य को जान सकेंगे? उस मामले में वे सारे यंत्र उपकरण होते हुए भी अंधे ही हैं।

उससे उलटे अंधे को कितनी दूर की सूझ जाती है? अंधे कवि, गायक, लेखक आंख की सामान्य क्रिया से हीन होने पर भी कितने सक्रिय हैं? यह क्या रहस्य है? उन्हें तब 'ब्रेल' लिपि का पता भी नहीं था, जब सूरदास या मिल्टन ने पद और काव्य रचे। तो रचना क्या दृष्टि से अतीत होती है।

क्या शब्द दृश्य से पहले नहीं आता है? या बाद में? बिजली पहले कौंधती है, या बादल की गर्जना पहले सुनाई देती है? प्रकाश ध्वनि से अधिक गतिमान है? या ध्वनि प्रकाश से? भौतिक शास्त्र कुछ और कहते हैं—नैतिक शास्त्र कुछ और प्रमाण देते हैं। जहां प्रकाश है, ज्ञान, और ध्वनित हैं शब्द, स्वर, व्यंजन···

मुझे लग रहा है कि अपने अधिकारों के लिए जुलूस लेकर चलने वाले ये महानगर के अंधे, (और उनपर अंधाधुंध लाठी बरसाने वाले ये उनसे भी ज्यादाह अंधे हैं) और मैं जो इतने शब्द लिख गई हूं—इन दोनों में कोई फर्क नहीं है। हम क्या खोज रहे हैं? हम क्या आशा लिए बैठे हैं?

इस अंधे सुरंग के अन्त में कोई प्रकाश रेखा होगी?

क्या हम सब केवल आधे अंधे हैं, जैसे कुछ लोग 'कलरब्लाइंड' होते हैं—यानी उन्हें एक खास रंग नहीं दिखाई देता। फिर भी वे जितना और जो दिखाई देता है, उसी के सहारे अपनी सत्य, शिव, सुन्दर सृष्टि करते जाते हैं।

'श्रुति' शब्द सभ्यता के इतिहास में बाद में आया धर्म और मजहब वाले कट्टर पंथी श्रुति (यानी 'वेद') को ही प्रमाण मानते हैं। 'ईश्वर शब्द बन गया, शब्द ही ईश्वर है' ईसाई ने कहा। वह 'कुन' इस्ला में सब शब्दों का आदि शब्द बना और हमारे यहां भारत में शब्द और अक्षर को तो पूरा मिथक ही बना दिया। एक पुराण विषय। 'प्रणव' क्या है। उन्होंने कहा कि वह उद्गीथ है। वह ॐ है।

यानी :

(आत्मा) अ=स्थिति, सत

(महत्, प्रकृति, जगत्) उ=गति, चित

(परमात्मा) म=परिपूर्ति, स्वाहा, आनंद

पर यह सब दर्शनशास्त्र मैं किसे सुना रही हूं और क्यों? जर्मन चित्रकार मुख की 'अरण्य-रोदन' एक प्रसिद्ध कलाकृति है, जिसमें एक निर्जन पुल पर से गोल मुंह करके, गला फाड़कर चिल्लाने वाली एक लड़की बेतहाशा भाग रही है। उसे कोई नहीं सुन रहा है। उसकी स्वर लहरी कई तरंगें बनकर उसके आसपास नीली, भूरी, काली रेखाएं बनकर कियाकार मंडरा रही हैं। क्या मैं अपने आपसे ही बात कर रही हूं? क्या कभी-कभी ऐसा एकालाप जरूरी नहीं हो जाता?

आत्मा देखने, सुनने, सूंघने, स्पर्श करने, चीखने, छूने से परे है।

क्या वह सांस है? प्राण है? वायु है?

क्या वह प्रकाश है? चेत है? दर्शन है?

क्या है वह? क्या है?

मैं अब तक उसे नहीं खोज पाई। जीवन के पचास वर्ष व्यर्थ गये।

वह न धन में मिली।

न वह साधन में मिली न वैभव, न ऐश्वर्य, न अनंत वस्तुओं के इस तरह कोष और भंडार जमा करने में। वह फिर भी इस सारे शोरगुल में खो गई। "दैट प्रिल वॉयस ऑफ कांशन्स···"

मुझे फिर अपना बचपन याद आने लगा। जब मैं अकेली होती हूं तो वही याद आता है। ज्यादह याद आता है। बचपन से, लड़की होने के कारण मुझे कितनी बातों पर बरजा गया—यह मत देख, वही देख

···यह मत छू, वही छू

···यह मत सुन, वही सुन

···यह मत खा या पी, वही खा या पी

जहां ऐसी वर्जना बढ़ी, मेरे मन में कुतूहल भी बढ़ा। और बचपन की वही चीजें बराबर याद रहीं, जिन्हें लेकर इतना ननुनच, इतना स्वीकार-अस्वीकार हम पर थोपा जाता था।

और यह हर उम्र में हम पर लादा गया।

और हर सातवें साल हमारा स्वभाव बदलता गया। मन अपनी केंचुली डालता रहा। नयी छाल मन पर आने लगी। नये पल्लव, नये फूल, नये रूप हर ऋतु के साथ यह क्रम चलता रहा। इस सारे बदलाव में मैं मैं ही बनी रही। स्मृति के सहारे जीती।

दर्शना को लोग दर्शना ही कहते रहे। पर मैं जानती हूं कि जो इतने सारे

ऊंच-नीच, उतार-चढ़ाव में बराबर एक जैसी बनी रही, पर नाम की ही दर्शना थी।

नाम कितनी छिछली चीज है। केवल एक अभिज्ञान का साधन। पहचान का लेवल। पर उसके पीछे लोग एक दूसरे को मार रहे हैं।

नाम से जाति, वंश, प्रदेश, भाषा, शायद नस्ल, शायद उस परिवार का स्वभाव सूचित होता है। पर वह सब तो पीछे छिपी हुई अनदीखी अभिधा है।

अहं-तुष्टि का यह एक मुखौटा है—नाम। मैं कहती हूं, मेरा नाम दर्शना है। और लोग मेरे दर्शन भी पसंद नहीं करते होंगे। मैं अपने को 'सु'-दर्शना मानती रही हूं। वैनतेय की पौराणिक संरक्षिका। परंतु हो सकता है कि मुझे 'कई लोग 'कु'-दर्शना कहते हों, 'सु' और 'कु' हमने अपने मन से बनाये। सापेक्ष। वे नाम के रूप में मनुष्य पर आरोपित किये। उनका पूरा एक सामाजिक आधार वाला ढांचा बना दिया।

मसलन मैं सांवली हूं। दुनिया में कई लोग गोरे-चिट्टे हैं। कई काले-सांवले। कई पीली चमड़ी वाले, कई लाल चमड़ी वाले। चार नस्लें बना डालीं। उन्हें नाम दे दिये—आर्य, अनार्य (नीग्रॉइड़ी), मंगोल काकेशन (सीशियन, शक)···

इस 'चातुवर्ण्य' (चार रंगों) में कितना वर्ण-मिश्रण हुआ। कितना उस पर लोग लड़े—आज भी लड़ रहे हैं। एक को ऊंचा मान, एक को नीचा। मैं पूछती हूं कोई भी एक वर्ण या रंग दूसरे रंग से श्रेष्ठ कैसे हो जाता है। रात काली है, दिन उजला। पर रात के माथे पर सब तरह की तोहमत लगा दी गई। रात के अंधेरे में 'पाप' होते हैं। क्या दिन दहाड़े जो कुछ अपराध होते हैं, जितनी बुराइयां होती हैं, उनकी हम अनदेखी नहीं करते जाते हैं? क्यों?

इन सब प्रश्नों के उत्तर संगठित दर्शनों के पास नहीं हैं। उन्होंने बाद में जे जोड़े हुए बौद्धिक समर्थन-असमर्थन के उनपर तार्किक आवरण और 'पैडिंग' जोड़े—

कहा—यह 'शुक्ल' यजुर्वेद है
वह 'कृष्ण' यजुर्वेद हैं
यह जादू है, 'काला जादू' (ब्लैक मैजिक) है।
यह 'सफेद' झूठ है। यह 'काली' करतूतें हैं।

हमारी सारी भाषा को हमने अपनी मर्जी से प्रदूषित कर दिया। काला धन, काला मन, काला बाजार, काला समुद्र···

नाम और रूप के बाद मेरे साथ कितनी अनदीखी चीजें जुड़ती गईं, जो मेरे दुःख की कारण बनती गईं। बहुत-सी उनमें ऐसी थीं, जिन पर मेरा कोई इलाज नहीं था।

क्या बचपन में हम अपना नाम चुन पाते हैं? नहीं। उसी तरह से अपना

परिवेक्षण, अपने अड़ोस-पड़ोस, अपने बन्धु-बान्धवा अपने मित्र-कलत्र, अपने सह-पाठी-सहकर्मी—क्या यह सब चुनने के लिए 'स्व'-तंत्र है ?

नही तो हमारे अस्तित्व को बनाने-बिगाड़ने में इनका जो हाथ है, इनकी जो ज़िम्मेदारी है, उसकी नैतिकता-अनैतिकता पर किसी ने कुछ सोचा है ? हम अकारण बदनाम होते चले जाते है उन चीजों के लिए जिन्हें चुनने का न हमें अधिकार मिला, न जिन्हें बदलने की हममे सामर्थ्य है।

इस मानवी सीमा को ही हमने अपनी दृष्टि-सीमा बना लिया। जैसे जहां से आगे कुछ न देख पाओ, उसे कह दिया—क्षितिज।

व्यक्ति अपने आसपास अपने सम्बन्धों के क्षितिज इसी तरह बनाते-मिटाते रहता है। 'जीवन'-यात्रा है ही पानी में से खेते जाना। अनजान, अनदेखे क्षितिजो के पार की टोह—एक तरह की अन्वीक्षा। हम सबमें एक इब्न बतूता, एक कोलंबस, एक अलबुकर्क छिपा बैठा है। वह हमें कहां-कहां ले जाता है ? कितने अज्ञात, अपरिचित भूखंडों की ओर। यह जिज्ञासा हमारे सारे अभिज्ञान की जननी है। और कही उस ज्ञान-प्रक्रिया की परिसीमा भी है।

जानना न जानना सब यहां बराबर हो जाता है।

फिर मेरे जैसी अज्ञानी स्त्री सोचने लगती है कि यह सारा जानना काफी नही है।

विज्ञान की अपनी बनाई हदबंदी है।

सो, इल्म से आगे कही और छठी इंद्रिय से कुछ पाना होगा। वह 'संवेदन' अनदेखा है। वह अनुभूति अनदेखी है।

जिन्होंने उसे पाने-पकड़ने की कोशिश की, वे हार गये। शब्द शायद वहां काफी नही है।

"यतो वाचो निर्वर्तंते अप्राप्य मनसा सः"

(वाणी जहां समाप्त हो जाती है, मनसे भी जो पाया नहीं जा सकता···)

कई धर्म उसे 'शब्द' मानते हैं। शब्द से परे और शब्दातीत भी।

कई उसे केवल 'स्वर' या 'नाद' मानते है।

कई सिर्फ 'ध्वनि', 'कुन'

एक न पढ़ी जा सकने वाली लिपि, एक अनुत्तरित पहेली।

नही, नही—इसी अन्दर-बाहर सर्वव्याप्त आवाज को आदमी झुठलाता जाता है, उसे सुनकर भी सुनना नही चाहता। वह विवेक की वाणी है, जिससे मानकर वह शोरो-गुल में खो जाना चाहता है।

उस आत्मा की आवाज की मन्द परन्तु अप्रतिहत निरंतरता से बचने, वह धर्म के नाम पर, अर्थ के नाम पर, विज्ञान के नाम पर शोर जमा करता जाता है—द्विगुणित, शतगुणित करके उस निनाद से आसमान गुंजाता है।

हर वार एक नया कुरुक्षेत्र—हर वार 'अपने अपने-शंख वजाने वाली' सेनाएं। हर वार हर सेनापति और रथी-महारथी का अहंकार और उनकी टकराहट। हर वार नये से नयी युक्तियां शत्रु को पराजित करने की।

शक्ति से मदांध, विजयोन्माद से अंध आदमी सरपट भागा जा रहा है। और रोशनी उसे मिल नहीं रही है।

भीतर की रोशनी से वह जी चुराता है।

ऐसे समय मैं क्या करूं?

मैंने जीवन में तीनों अवस्थाएं देखीं—जव मैं देख पाती थी, वाद में जब मैं देख नहीं पाती थी, और उसके वाद उधार की आंखों के सहारे दुवारा देख पाने की। पर मुझे सुख की तलाश अव भी है।

वही अनदेखी दुख की प्रतिच्छाया वरावर मेरा पीछा करती रही। शायद जब तक यह शरीर है, दुख की छाया उसके साथ वरावर चिर-संगिनी की तरह चिपटी-लिपटी हुई है। उसे हम चाहे मानें या न मानें।

लाख उसे भुलाने की कोशिश करें—जीवन में देखी हुई पहली मृत्यु की तरह, जीवन में खाये पहले विश्वासघात के आघात की तरह वह वरावर अविस्मरणीय ढंग से साथ में ही है।

उस 'अदृष्ट' से, कुछ दार्शनिक कहते हैं, लड़ने से भी क्या फायदा? हम अपने आपसे धोखा कैसे और कवतक दे सकते हैं?

कुछ विचारकों ने इसीलिए विवेक अविवेक, पाप और पुण्य प्रकाश और अंधकार की सीमा रेखाएं मिटाना चाहा। एक सतत धुंधलके में रहने का आमंत्रण दिया। कह दिया कि जो यथार्थ है यह सव मिथ्या है। रस्सी को ही सांप देख-मान रहे हो। दोष चांदनी रात का है, या तुम्हारी आंखों द्वारा उस पर आरोपित है यह 'माया' विदर्त है। अभ्यास है। कई-कई शब्द दिये उस स्थिति को।

पर मुक्ति कामी फिर भक्ति में खो गये।

माया उनके लिए 'नानारूपेण माया' वन गई। वही युगयुगों से पुराणों और मिथकों में, उर्वशी और रति वनकर, सीता और राधा वनकर, पार्वती और सावित्री वनकर अवतरित होती रही। पुराण चूंकि पुरुषों ने लिखे थे, ये सव आभास स्त्री-रूप लेते रहे।

असल में स्त्री के मन में भी ऐसे आदर्श-पुरुष वरावर झूलते, उतरते, वनते-मिटते वालू के आकार कम हैं क्या? पुरूरवा और अनंग से लेकर राम और कृष्ण और उसके वाद अनंत आदर्श पुरुषोत्तम गढ़े गये, उनकी प्रतिमाएं मन-मन में अन-दीखी होती चली गई। इतिहास भरा पड़ा है ऐसी रोमैंटिक विभूतियों से। कभी हीरो, वाद में जीरो।

शायद यह मनुष्य का सवसे आदिम खेल है। 'शून्य भीत पर' कर-विन, दृग-

उसे प्रदूषित करो···उसी विकृति को उसने संस्कृति कहा।

मनुष्य वि-भीषण बन गया। खर-दूषण बन गया।

प्रकृति को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ, बलि, तरह-तरह के अनुष्ठान—यहां तक कि गंगा मैया पर 'पियरी' चढ़ाई जाने लगी। तरह-तरह की मानताएं रखी जाने लगी। पवित्र पर्वतों और उन पर बसे तिरुपति के बालाजी, या वैष्णोदेवी आदि तीर्थों की वार्षिक आय एक अद्भुत 'अर्थ'-शास्त्र बन गया। लाखों लोग नदियों में अमुक दिनपर नहाने लगे। यहां तक कि पवित्र स्थान पर जाकर मरना भी 'पुण्य' हो गया।

यह आंखें होते हुए अंधे बनते-बनाते जाने का व्यापार सदियों से चला आ रहा है। सिर्फ हमारे देश में ही नहीं—सारी दुनिया में। हम सिर्फ सोचते हैं और खिन्न होते जाते हैं। पर भक्ति अंधी है।

'मंत्र हीन, क्रियाहीन···' करोड़ों लोग उसी गड्डलिका-न्याय से चले जा रहे हैं। मनुष्य ने अपने आपको चींटी बना लिया और वह 'क्यू' में लगा हुआ है। गंतव्य का पता नहीं है। बराबर उधर से इतनी ही चेतावनी आ रही है—"आप धैर्य रखें। आप 'क्यू' में हैं।"

कई बार यह 'क्यू' किस चीज के लिए यह भी ये लोग नहीं जानते।

अंधे-अंधे को राह दिखा रहे हैं। सब एक अंधकूप की ओर चुंबकीय ढंग से खिंचे चले जा रहा है।

अंधकार के लिए हमारे मन में बचपन से, आदिम काल से भय भर दिया गया है। भाषा भी उसी तरह ढाल दी गई—अंधेरे में तीर मारना, अंधेरे क़हर की काली वर्षा, अंधाधुंध गोलाबारी, सुरंग की अंधेरी राह में आखिरी किरण की तलाश···

अनदीखे के प्रति मनुष्य का यह अज्ञात भय और आकर्षण ही उसकी सारी ज्ञान प्रक्रिया, देखने की इच्छा और निरंतर बढ़ने वाली और अनबुझ जिज्ञासा की प्यास का मूल कारण है।

पर मनुष्य की नियति वही है उसका ज्ञान कितने जल्दी अज्ञान में परिणत होता चला जाता है। हर चीज बहुत जल्दी बासी और फफुंदियाई हुई हो जाती है। उपयोगी वस्तुएं अनुपयोगी बनती जाती हैं। हमारा सारा बुद्धि व्यापार एक विलक्षण अ-बुद्धिवाद में हमें ले जाता है।

विज्ञान अविज्ञान बनता जाता है। स्थिति गति, गति पुनःस्थिति। भाव अभाव, अभाव भाव। सारा तथाकथित नकार नकार नहीं रहता।

कुमारावस्था में मन का रथ एक कामना से जब आरूढ़ करते हैं, तब वह रथ सब ओर जाने वाला होता है। ऋग्वेद कहता वह 'अपश्यन्नधि तिष्ठसि'—न देखता हुआ, आंखें मींचे तू उस पर सवार हो रहा है।

आंखें होते हुए भी, मन के उद्दाम आवेग में हम आंखें मींचे उस पर सवार होते जाते हैं।

ऋग्वेद का ही एक दूसरा प्रसंग है 'अन्धी से विवाह' (10.27.1)

यस्यानक्षा दुहिता जात्वास कस्तां
विद्वां अभि मन्याते अन्धाम्
कतरो मेनिं प्रति तं मुचाते
य ईं वहाते य ईं वा वरेयात्

"जिसकी पुत्री अन्धी होती है उसको बड़ी चिन्ताएं होती हैं। अन्धी का विवाह होना प्रायः असम्भव है। अन्धी कन्या पितृकुल पर बोझ बनी रहती है।"

"यदि कोई अन्धी कन्या को स्वीकार करे तो उसे कौन समझदार कहेगा? जो ऐसी कन्या से विवाह करे वह वज्रमूर्ख है। कौन ऐसे आदमी के दुख दूर करेगा?"

"जो अन्धी स्त्री से विवाह करता है, वह आंखें होते हुए भी अन्धा है।"

इस मंत्र का प्रतीकार्थ भी लगाया जाता है। माया अन्धी है। जो उसका वरण करता है वह अन्धा और मूर्ख है।

कुबुद्धि अन्धी है।
कुदृष्टि अन्धी है।
कुश्रुति अन्धी है।
कुरमजा, कुवाणी अन्धी है।

ऐसी सब अन्धी अविद्याओं, तृष्णा, दुष्कृति आदि से जो विवाह करता है, वह अन्धा है।

अनेक अन्धी पत्नियों से विवाह करने वाला तो अन्धों का अन्धा है, महान्ध है। उसे कौन मुक्त कर सकता है?

यह एक तरह का आंखों पर पट्टी बांधे एक-दूसरे को खोजते फिरने का आंखमिचौनी का खेल है—हमारा जीवन।

बहुत देर बाद आदमी की समझ में आता है कि यह सब एक चक्राकार, गोल-गोल फिरना है, एक केंद्र-बिंदु के आसपास—मगर उस नित्य गतिमान आवर्त का भी एक स्थिर मूल-बिंदु है। वही हम टालते रहते हैं।

मराठी कवि 'कुसुमाग्रज' की एक कविता उनकी 'वादलवेल' (बादल वेला, तूफान की वेल) में यह पहली ही कविता है, जो बहुत पहले मैंने पढ़ी थी—अनुवाद में—आज फिर उसे दुहराती हूं, और उसके अर्थ की पर्तें खुलती जाती हैं—मूल पंक्तियां थीं—

आवेर माझे जीवन म्हणजे माझे कलणे

परन्तु केन्हा अभा क्षणाला
लाख गवाक्षे भवती खुलती
उचलुंनि छेती रस्त्यावस्किनी
प्रकाश काही काही माती
आणि पुनः विवरात चाखते जुनेच जलणे
परंतु त्या ज्वलनात उमलते नवीन कलणे

अर्थ—

आखिर मेरा जीवन है मेरा ही आकलन
तिमिर भी मेरा, दिया भी मेरा, मेरा ही ज्वलन
परंतु आता है ऐसा क्षण
लक्ष गवाक्ष वहां खुल जाते
और उठाते उन रास्तों से
कुछ प्रकाश औं कुछ कुछ मृद्कण
और पुनः चलता विदरों में ज्वलन पुरातन-
परंतु खिलता उसी ज्वलन मे नया अकलन !

—अब मेरी कहानी पूरी होने आई। मैं जो कुछ कहना चाहती थी, वह पूरी तरह कह नहीं पाई। शायद मेरे पास उस कहने लायक शब्दों की पूंजी ही नहीं—या वह सारा अनुभव एक बिजली की कौंध की तरह चकाचौंध पैदा करने वाला—सारी दृष्टि को हर लेने वाला, सब शब्दों को एकदम निःस्तब्ध बनाने वाला था। मैं क्या करूं ?

शायद जितना कहा उसमें से अनकहे की ध्वनि आप समझ लेंगे। सारा बोलना लिखना, पढ़ना निरा संकेत है। सड़क पर पथ के दिशा-संकेत स्वयम् चलते नहीं। वे चलने वालों का सहारा मात्र होते हैं। पर कई आंखें रहकर भी अंधे हैं। वे दिशासंकेत नहीं पढ़ते।

जीवन की यात्रा ऐसा मरुस्थल है, जिसमें जाने वाले ऊंट या कारवां, या आदमियों के पैरों के निशान मिटते चले जाते हैं। हवा उन्हें रहने नहीं देती। फिर भी हम आशा करते रहते हैं कि जो उस मार्ग पर गये, वे हमारे लिए कुछ छोड़ जायेंगे—कुछ पदांक, कुछ पथ-चिह्न।

बर्फ में दुर्गम गिरि पर चढ़ने वाले क्या निशान छोड़ते हैं ? वे हिममय बन जाते हैं। कई बार बहुत खोदने खोजने पर कोई हड्डी की ठठरी, कोई कंकाल वहां अवशेष रहता है, जो मिल जाता है। शायद कोई लोहे का झंडा या तख्ती, इसी तरह का कोई चिह्न। वर्ना वही अपरंपार अभेद्य तिमिर ही तिमिर ही जैसा ठंडा हिम ही हिम। उसके अपने अगम्य होने का ही, अस्पर्शनीय होने का ही अहंकार होगा। पर उस 'अहं' का क्या करें जो दूसरे तक नहीं पहुंच पाता—

प्रकट नहीं होता। वह अपने आप में अवगुंठित, अनावृत, निभृत रहता है।

मैंने अपने छोटे से जीवन में, दृष्टि यदि ज्ञान है तो ज्ञान, अज्ञान, पूर्व-ज्ञान दोनों अवस्थाएं देख लीं, या कहूं अनुभव कर लीं, और यह कहना कठिन है कि कौन-सी स्थिति ज्यादह अच्छी थी, बदतर थी। वस्तुतः दोनों ही अवस्थाएं रही हैं।

इतना जरूर है कि जब आंखें होती हैं तो हम देख सकते हैं कि दूसरे हमें किस तरह से देखते हैं। या देखकर भी अनदेखा करते हैं।

जब आंखें नहीं काम करतीं तो हमें दूसरों के कहने पर सब करना होता है। इशारा, संकेत, इंगित ये सब अदृश्य हो जाते हैं। यहां दुख यह है कि न हमें अपनी उपस्थिति से दूसरे पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह हम जान पाते हैं; न दूसरों की उपस्थिति का ही हमें प्रत्यक्ष दर्शन होता है। यह स्थिति जितनी सुखद है, उतनी ही दुखद भी है।

पर जब इन दोनों स्थितियों से हम तीसरी स्थिति पुनर्दर्शन पर पहुंचते हैं तो कई हमारे पुराने सुख-दुख बेमानी लगने लगते हैं। जिन चीजों को हम इतना महत्त्व देते रहे—क्या वे सचमुच थीं। या हमारी अपनी मान्यताएं या कल्पनाएं ही थीं?

यह एक तरह से मनुष्य के अस्तित्व की तीन अवस्थाएं

—होना

—होते रहने का प्रकार, अनहोना

—होने और अनहोने से परे खो जाना

क्या बचपन में मैंने इसे ही भूः, भुवः, स्वाहा कहा था? क्या यही प्रेम जीवन का-पूर्वानुराग, मिलनानुभूति के साथ विरहानुभूति और तीसरी निर्वेद की स्थिति कहलाती है?

दर्शना, दर्शना, तेरा नाम पिता ने ऐसा क्यों रखा?

हमारे समाज जीवन का बहुत सारा काम ऐसा ही चलता रहता है। उसे किसी एक व्यक्ति के सुखदुख की कहानी सुनने या देखने को कहां अवकाश है। हर आदमी भीड़ में है। एक हुजूम में खोया-खोया सा है। पर उसके भीतर उसका अपना अकेलापन, उसका 'स्व' उसे नहीं छोड़ पाता है। यही उसकी मुक्ति है।

चतुर, दोनों तरफ हाथ मारने वाले, 'मुक्ति' शब्द का उपयोग ऐसे अनेकार्थी ढंग से करते हैं कि धर्म वालों को लगता है, यह आत्मा की मुक्ति की बात कर रहा है; अर्थवालों को लगता है, यह शोषण से और अभाव से मुक्ति की बात कर रहा है, काम वालों को लगता है यह स्वेच्छाचार, बंधनहीन प्रतिबन्धमुक्त की बात कर रहा है। ऐसे कई अध्यात्मवादी प्रगतिवादी और प्रगतिवादी अध्यात्मवादी

और दोनों अवस्थाओं में से पार हुए अस्तित्ववादी हो जाते हैं। समीक्षक हैं कि उनके शब्दों के प्याज़ की तरह छिलके पर छिलके उतारते चले जाते हैं, और अन्त में उनके हाथ में आता है शून्य।

इस आत्मकथा जैसी मेरी डायरी कहिये या आत्म-स्वीकृति कहिये—उसे लिखकर मैं अब अपने आपका हलका महसूस कर रही हूं। जो 'घनीभूत पीड़ा मस्तक में स्मृति सी छाई' थी, वह अब अक्षरों में खो गई। जो 'नीरभरी दुख की बदरी' घुमड़ रही थी, वह जैसे अब रीत गई।

इस सारे लिखे हुए को जो *पढ़ेंगे उन्हें शायद कहीं सहकंपन मिले, सह-स्पंदन* का अनुभव हो। क्योंकि हम सबके हृदय और मन एक से नहीं होते, यहां तक हम सबकी शक्ल, आकार-रूप कुछ भी एक जैसे नहीं होते—तो इनमें इन सामान्यीकरण, साधारणीकरण क्यों खोज रहे हैं? यह एक ठोस और फिर भी सर्वरूप लेखन है।

हमारे हर कर्म के साथ यों अकर्म भी लिपटा चला आता है। बल्कि कर्म में से ही वह उपजता है। कभी कभी भेद करना मुश्किल हो जाता है—क्या है कर्म, क्या है अकर्म?

यह डूबते-उतरते-उबरते तैरते जाने की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। हम सब संभावनाओं पर जीते हैं। हर भावना में एक संभाव्यता छिपी हुई है।

संप्रति में भी एक 'प्रति' है —प्रतिक्रिया या 'किसी के प्रति' वाली बात।

मनुष्य मात्र मनुष्यमात्र के प्रति अपेक्षा रखता है। बल्कि यों भी कहें तो ठीक है कि हर मनुष्य एक 'प्रतिभू' (जमानत) है।

किसकी? कैसे? कब रखी हुई? कब छुटने वाली है? यह हर एक की अपनी-अपनी सोचने की बात है। अपनी-अपनी मानने न मानने की बात है।

मुझे लगता है मैंने अपनी ज़िंदगी में वह जमानत नहीं मांगने की प्रतिज्ञा की थी। पर वह निभ नहीं सकी। *अब जमानत पूरी हो गई है। और मुझे यहीं* मानव-जीवन का कृतज्ञ होना चाहिए। 'कृपालु भज मन दारुणम्…'

हम तो आजीवन किसी की कृपा के मुहताज नहीं रहे।

जो कृपा पर निर्भर हैं, उनका ठीक है।

कोई अंधा गायक गा रहा था। दूर से ध्वनि सुनाई दे रही थी—

'जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै
अंध को दे सब कछु दरसाई…'